## प्राक्कथन

पाठक वृन्द !

आध्यात्मिक ग्रन्थों में सुगमतया प्रवेश कराने के हेतु श्री १०५ क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी जी का आध्यात्मिकसूत्र भाष्य प्रथम प्रकाशित हो चुका है। यह तत्वसूत्र भी आपके समक्ष समर्पण किया जारहा है। इसके पठन पाठन से स्व पर भेद विज्ञान अवश्य होगा। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी। आशा है पाठक वृन्द इसको पढ़कर वर्णी जी के उत्साह की वृद्धि गत करेंगे तथा स्वकल्याण करेंगे।

प्रूफ संशोधन में काफी ध्यान दिया गया है। यदि किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो सूचित करने की कृपा करें। ताकि आगामी संस्करण में शुद्ध किया जासके।

निवेदक —
बिहारीलाल जैन शास्त्री
मेरठ सदर



# * श्री तत्वसूत्रम् *

## प्रथमोऽध्यायः

सूत्र ॐ । १ । १

टीका—ॐ यह मङ्गलाचरणात्मक एवं निवचनात्मक सूत्र है। ॐ शब्द में सर्व पूज्य आत्मा गर्भित हैं। सर्व श्रेष्ठ और पूर्ण शुद्ध आत्मा वह है जिसके रागद्वेषादि विकार नष्ट होगये, आत्माके सर्व गुण पूर्ण सीमा के विकाश को प्राप्त होगये। जो कर्म और शरीर से रहित होगये हैं व 'अशरीर' कहलाते हैं। अशरीर होनेसे पहिले व आत्मा जो कि शरीर सहित तो होते हैं परन्तु आत्मा के गुणों का पूर्ण विकाश वाले एवं रागद्वेषादि दोषों से रहित होते हैं व 'अरहंत' कहलाते हैं। अरहंत अवस्था से पहिले वे जो आत्मा सर्व परिग्रह का त्याग करके आत्मसाधना में लीन रहते हैं व 'मुनि' कहलाते हैं। मुनियों में जो प्रधान होते हैं वे 'आचार्य' कहलाते हैं। तथा मुनियों में जो विशिष्ट ज्ञानी होते हैं और जो पठन पाठन भी करते हैं वे आचार्य द्वारा निर्णीत 'उपाध्याय' कहलाते हैं।

१—ॐ शब्द में इन पांचो प्रकार के आत्माओं के नाम गर्भित हैं, क्यों कि इन पांचों परमेष्ठियों के नामों के प्रथम अक्षर व्याकरण प्रकिया से मिला देने से 'ॐ' शब्द बनता है। जैसे अरहत का 'अ'। अशरीर का अ। आचार्य का 'आ'। उपाध्याय का 'उ'। मुनि का 'म्' अ+अ+आ+उ+म्=ओ (ॐ)।

अ+अ यहा 'अक सवर्णे दीर्घ' इस सूत्र से दीर्घ होकर 'आ' होगया। आ+आ यहा भी 'अक सवर्ण दीर्घ' इस सूत्रसे दीर्घ होकर 'आ' हो गया। आ+उ यहा 'आद्‌गुण' इस सूत्र से गुण (ओ) होकर 'ओ' होगया। ओ+म् यहा 'विरामे' इस कातंत्र सूत्र से अनुस्वार होकर ओं सिद्ध हुआ।

२—ॐ में यह भी अर्थ गर्भित है कि अधोलोक, अमनिलोक (मध्यलोक) उर्ध्वलोक इन तीनो लोकों में ऊपर जो सिद्ध शिला है, उसके भी ऊपर जो रागद्वेष कर्म शरीर से रहित नानाम्कर सिद्धदेव विराजमान हैं उनका ध्यान रहा।

यहा अधोलोक का 'अ', अमनिलोक का 'अ', उर्ध्वलोक का 'ऊ'। इन तीनों वर्णोंमें संधि होने से ओ बनता है जिसकी मुद्रा ॐ है। यह तीनों लोकों का वाचक है। इसके उपर ॅ इस तरह अर्थात् अर्धचन्द्र के आकार

सिद्धशिला है। इसके ऊपर ० शून्य अर्थात् जो रागद्वेष आदि विभावों से शून्य है, ज्ञान ही जिनका शरीर है, जो ज्ञान स्वरूप आदि मध्य अन्त कर रहित है, ऐसे परमात्मा मुमुक्षुओं के पूज्य और परम आदर्श है।

३—ॐ इसमें मन्त्रज्ञान के पांचों परिणमन गर्भित हैं। यथा आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान), आगमज्ञान (श्रुतज्ञान), अवधिज्ञान, अन्तःकरण पर्यायज्ञान (मन पर्ययज्ञान), उत्कृष्ट ज्ञान (केवल ज्ञान)। तथा ऊपर जो ० है वह सामान्य ज्ञान वाचक है जिसका न आदि है, न मध्य है, न अन्त है। सब पर्यायों में रहता हुआ भी किसी पर्याय मात्र नहीं है।

यहां प्रत्येक ज्ञान पर्यायवाचक शब्द का आदिम आदिम अक्षर लेकर परस्पर सन्धि करने से इस प्रकार अ+आ+अ+अ+उ=ओ होगया है। इसके ऊपर सामान्य ज्ञानवाचक ० है सो सब मिलकर ॐ बन गया। यहां यह जानना चाहिये कि ज्ञान की अवस्थाओं में सर्वोत्कृष्ट केवल ज्ञान है। इस केवलज्ञान शब्दका भी अर्थ यही ध्वनित होता है कि केवल = सिर्फ ज्ञान। यह उत्कृष्ट ज्ञान सामान्य ज्ञान की उन्मुखता से प्रकट होता होता पूर्ण ज्ञान शक्ति के विकास रूप उत्पन्न होता है जो कि अनन्तकाल (सदैव) तक रहेगा। हम सबके भी यही पुरुषार्थ होना उत्तम है

कि सामान्य ज्ञान के उन्मुख होकर स्वभाव दृष्टि से दृढ़ बनावे।

४—अब निर्वचनात्मक अर्थ कहते हैं—ॐ यह शब्द ब्रह्म है, जैसे कि तत् यह ज्ञान ब्रह्म है और सत् यह अर्थ ब्रह्म है। किसी पदार्थ के बोध में बुद्धि शब्द अर्थ तीन आवश्यक हैं। यहाँ शब्द के विषय में व्यापक तत्त्व लिया गया है, जो कि ॐ शब्द से मुद्रित है। ॐ में सर्व शब्द गर्भित हैं अथवा सर्व शब्दों का एकत्र रूप में प्रतिनिधि यह ॐ शब्द है। ॐ तत् सत् कहने में तीनों व्यापक तत्त्व आ गये। ॐ से वाच्य, तत् से ज्ञेय, सत् ब्रह्म है।

दृश्य मायामय व कल्प्य मायामय से प्रचुर तत्त्व का नाता जब साम्प्यवहार में आया तब उस अलौकिक विशाल तत्त्व के प्रतिपादक वचन नहीं थे, इसी लिये मानों सर्व शब्दों ने अपना एक प्रतिनिधित्व ॐ को सौंपा, सो यह नाता ॐ से ही यह सदा निभता अन्य रहस्य के साथ एक रहस्य यह भी है जो 'हां' ही कर सका।

५—यह ॐ उपाय उपेय भाव को भी अपनी आकृति से प्रदर्शित कर रहा है कि वह शून्यध्वनित परम तत्त्व जो अपने में अभिन्न व सर्व से भिन्न, स्वभाव में तन्मय व परभाव से असमवत, आनन्दघन ज्ञानपुञ्ज है वह ऐसा २ दृष्टियों के उपाय से उपलब्ध होता है।

ॐ इस आकृति के ३ भाग हैं उ – ० – ˇ ० प्रथम भाग जो रखाकार उ निर्मित, तीन जैसा अङ्क, भेद या बहुत का प्रतिपादक व्यवहारनय का प्रतीक है। यही भी प्रथम अङ्कित है क्योंकि मन की शुरुआत यहा से है, व्यवहार से ही लोक है, उपदेश है, तीर्थ है। तृतीय भाग जो ० शून्य कर प्रदर्शित है वह निश्चयनय का प्रतीक है। जैसे शून्य आदि मध्य अन्तकर रहित है वैसे ही निश्चय नय का वाच्य शुद्ध त्रैकालिक तत्त्व आदि मध्य अन्त कर रहित है। जैसे शून्य एकाकारता, अभेद का बतलाता है इसी प्रकार निश्चय नय भी अभेदमय एक तत्त्व का प्रतिपादक है। द्वितीय भाग रखाकित प्रमाण का प्रतीक व्यवहार और निश्चय दोनों को छुए हुए है, दोनों नयों को साथ रहा है, सापेक्ष बना रहा है, सकल का आदेश करता है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि व्यवहार और निश्चयनय स पदार्थों का जानकर मनन का अभिगम न करके प्रमाणित कर, निश्चय तत्त्व की उन्मुखता से इन तीनों दृष्टियो से भी परे बन कर, अर्थात् जहा न व्यवहार दृष्टि रही, न निश्चय दृष्टि रही, न प्रमाण दृष्टि रही ऐसी स्वानुभूति रूप का जागृतकर। ॐ के ऊपर उ न पर जो द्वितीयचन्द्र की कला की तरह ˇ है, यह स्वानुभूति का प्रतीक है। इस निरन्तर अविच्छिन्न, भेद रहित, स्वानुभूति के दृढ

निश्चल परिणमन से शून्य अर्थात् राग द्वेष रहित, आदि मध्य अन्तर रहित, सब से ऊपर विराजमान, देदीप्यमान, सर्व द्वन्द्वों से रहित निज समय सार तत्त्व उपलब्ध होता है जो कि मुमुक्षुओं का लक्ष्यभूत है।

६–ॐ यह शब्द तत्त्व प्रतिपादक है। यह वस्तु का स्वरूप कहता है–कि वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्य कर सहित है। ॐ में तीन शब्द गर्भित हैं अ, उ, म जिन में अ तो अव्यय को कहता है, उ उत्पाद का कहता है म मध्य को कहता है परस्पर सन्धि होने से ॐ शब्द बना। यही ब्रह्मा विष्णु महेश शब्द से भी प्रसिद्ध है ब्रह्मा का वाचक शब्द अज है जिसका प्रथम अक्षर अ लिया गया और विष्णु का पर्यायवाचक शब्द उ है, तथा महेश का आदिम अक्षर म लिया गया। ब्रह्मा को उत्पादक माना गया है अर्थात् वस्तु में रहने वाला उत्पाद अंश ब्रह्म है तथा व्यय ( संहार ) अंश महेश है एवं ध्रौव्य (रक्षण) अंश विष्णु है, इस प्रकार वस्तु त्रिरूपतामय (त्रिलक्षणात्मक) है। इस ही वस्तुस्वभाव के कारण धर्म की आवश्यकता हुई है जो कि अनादि से ही प्रसिद्ध है।

आत्मा यदि नया नया उत्पन्न होता रहे व उत्पन्न हुआ नष्ट होता रहे तो धर्म कौन करे और क्या करे? क्योंकि इस मन्तव्य में आत्मा तो क्षणमात्र रह कर समाप्त हो

जाता । तथा आत्मा यदि कुछ परिणमन ही न कर कूटस्थ अपरिणामी रहे तो उस में कुछ होना तो है ही नहीं, मुक्ति किसे दिलाते ? किस और क्या धर्ममय बनाते ?

आत्मा भी वस्तु है, द्रव्य है अत उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त है । फलितार्थ यह हुआ कि आत्मा सदा रहने वाला है परन्तु अपनी अवस्थाएं, गतियां बदलता रहा है जैसे शुभ अशुभ भाव करता है वैसे ही शुभ अशुभ फल भोगता चला आया है, भोगना पड़ता इस ही इस का, अत शुभ अशुभ भावों के बिना जो आत्मा का ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव है जो कि स्वयं सुख शान्ति पूर्ण है उस रूप रहना अर्थात् धर्म करना आवश्यक है ।

८—ॐ यह शब्द आत्मा की तीन दशाओं का शब्दों व्याकरण विधि द्वारा प्रदर्शक है ॐ में ३ वर्ण हैं अ,उ,म् । जब अ बोला जाता है तब मुख अधिक खुलता है, बहि हो जाता है, इस प्रकार के अनुरूप आत्मा की बहिरात्म दशा है । उस दशा में जीव अपने स्वरूप से च्युत होकर बहिर्मुख हो जाता है, बाह्य पदार्थों की ओर खुलता है । उ बोलने में मुख कुछ अन्दर को होता है कम होता है, कम खुला रहता है, इसके अनुरूप आत्मा अन्तरात्मा होता है, इस दशा में यह बाह्य रागादि भावों को बिलकुल बंद तो नहीं कर पाता लेकिन बहुत कम कर रहता है, अन्तर्मुख

होता है। म् ने उसे म मुग्ध पूर्ण ज्ञ हो जाता है इसके अनुरूप राग द्वेषादि सब विकार निर्मूल समाप्त जहा हो चुकते हैं ऐसी परमात्म शुद्धावस्था का यह प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि ॐ यह शब्द अ से बहिरात्मा, उ से अन्तरात्मा, म् से परमात्मा इस प्रकार त्रिविध आत्मा का स्वरूप है।

८–ॐ यह शब्द ब्रह्म है, सर्वज्ञ सशरीर परमात्मा की दिव्य ध्वनि जिसे सुन कर गणधर देव द्वादशाङ्ग की रचना करते हैं और प्रत्येक श्रोता अपनी योग्यता से उठे हुए भावों का स्वयं समाधान पाता है, वह दिव्य ध्वनि ॐ की ध्वनि से होता है अत सर्व आगम का मूल बीज ॐ यह शब्द है।

९–ॐ यह मत्र का मूल रहस्य है मत्र प्राय ॐशब्द से शुद्ध किये जाते हैं अत "ॐ" मत्र प्राण है।

१०–ॐ यह शब्द देव, शास्त्र, गुरु इन तीनों का गोतक है। आप्त का प्रथम अक्षर आ, उक्ति का प्रथम अक्षर उ और मुनि का प्रथम अक्षर म् यह तीनों परस्पर सहित होकर ॐ बन जाता है। तत्त्वभूत उपाय उपेय समझने के लिये देव, शास्त्र, गुरु इन तीनों का यथार्थ परिज्ञान आवश्यक है।

११–ॐ यह शब्द सम्यग्दर्शन के प्रयोजनभूत सप्त

तत्त्वों का प्रतिपादक है। सप्त तत्त्वों के ये नाम हैं-१आत्मा २ अनात्मा, ३ आश्रव, ४ अनुत्थिति, ५ अनुत्पत्ति, ६ उपरत्य, ७ मोक्ष, इन के आदि आदि के एक अक्षर रख कर संधि करने से ओं बन जाता है। अतः ओं के कहने में सात तत्त्वों का परिज्ञान होता है जिन को भूतार्थनय से एकत्व में ले जाकर उन सर्व विकल्पों का भी त्याग पूर्वक अभेद प्रतिभासी निज चैतन्यभाव का अनुभव करता है।

१७-ओं यह शब्द सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र का प्रदर्शक है। यथार्थ अवलोकन-सम्यग्दर्शन, यथार्थ उद्योत सम्यग्ज्ञान यथार्थ मौन-सम्यक् चारित्र है। यहां अवलोकन का अ, उद्योत का उ, मौन का म् तीनों की संधि होने पर ओं यह सिद्ध होता है। अत ओं मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है।

इस प्रकार ओं इस ध्वनि से मंगलाचरण, तत्त्वस्मरण करके व्यापक शब्द ब्रह्म का वर्णन किया।

अब ज्ञान ब्रह्म का संकेत करते हैं-

## तत् ।१।२

वह यह चैतन्य चमत्कार मात्र नानाकार अन्तरंग में चकचकायमान निजस्वरूप से तत् है। ज्ञानमात्र आकार प्रकार से रहित है अत वह असीम है, सर्व क्षेत्र में स्थित सर्व द्रव्य गुण पर्यायों के जानने के स्वभाव रूप, सहज शुचि रखता हुआ, व्यापक ज्ञान के

शब्द से वाच्य व स्वीकृत है और तत् ज ट से रमर्ट य है। परमार्थत स्वात्मबोध से अविरुद्ध भी नहीं प्रतिभासमान होता और वह ही प्रतिभास्य स्वरूप की अपेक्षा लोकालोक में व्यापक है। लोक इतना ही है अत इसे जानता है किंतु ज्ञान अशक्ति से लोकमात्र को जानता हो ऐसी बात नहीं है। यदि अनन्त भी लोक हो तब भी ज्ञान उन्हें जानता ही।' ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है अत सर्व ज्ञानों के स्वरूप में विसदृशता न होने से वह एक ज्ञान एक ब्रह्म, एक ईश्वर आदि अनेक नामों से कहा जाता है। ज्ञान भावात्मक तत्त्व है, अत निराकार है (यहां अर्थ ग्रहण से रहितपने की विवक्षा नहीं), ज्ञान स्वरूप में लालरूप प्रीति अप्रीति ध्यान ख्याल वासना भावना आदि कोई गुण नहीं है अत वह निर्गुण है, परन्तु इस चैतन्य में से अनेक पर्याय आविर्भूत होती है। अत रूपा है, तथापि वह चैतन्य खाना नहीं हो जाता इस कारण पूर्ण है। इस चैतन्य की आदि नहीं है क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार इसका अन्त भी नहीं है क्योंकि सत् का विनाश नहीं होता। इस कारण यह ज्ञानात्मक तत् जैसे क्षेत्रापेक्षया व्यापक है, वैसे कालापेक्षया व्यापक है, अर्थात् लोक लोक और त्रिकाल विषयक यह तत् है, ज्ञान अपनी चित्तिमत्ता को लिये हुए रहता, ज्ञप्तिमत्ता बाद

न कई विशेषरूप ही होती है। अतः वह विशेष, विशेषज्ञान के नाम से सिद्धांत-सम्मत है। वह विशेषज्ञान आदिमान और अन्तवान् है इस लिये अन्य दार्शनिकों ने यह कल्पना की कि 'विशेषज्ञान की आदि होने के अनंतर पूर्वक्षण में वह तत्त्व निसमें कि विशेषज्ञान का आविर्भाव हुआ है, सब्रह्मविशारद रूप निर्गुण निष्क्रिय (निष्पर्याय) स्वतंत्र है'। परन्तु तत् शब्द से स्मर्तव्य ज्ञानस्वरूप वह ब्रह्म एक क्षण भी निष्पर्याय नहीं होता। हां! सामान्य विशेषात्मक ज्ञान ब्रह्ममें प्रज्ञा द्वारा सामान्य और विशेष अवश्य भिन्न प्रतीत हो जाते हैं तथापि वे भिन्नसत्तात्मक नहीं हैं, केवल लक्षणतया पृथक् हैं। इस तत् के स्मर्तव्य के विषय में नाना कल्पनाओं के कारण विभिन्न दर्शन हो गये हैं। वे दर्शन इस तत् के धर्म हैं। जिन जिन दृष्टियों से ये धर्म हैं उन उन समस्त दृष्टियों का प्रतिपादन 'स्याद्वाद' है और उन सब धर्मों का समवाय अनेकांत है। उस सर्व धर्म विशिष्ट धर्मी का प्रतिभास करने वाला तत्त्व तत् शब्द से वाच्य है। इस प्रकार तत् रूप ज्ञान ब्रह्म का वर्णन किया। अब शब्द ब्रह्म और ज्ञान ब्रह्म के वर्णन के बाद अर्थ ब्रह्म का वर्णन करते हैं।

## सत् १।३

ॐ शब्द से वाच्य, तत् शब्द से ग्राह्य अर्थ ब्रह्म सत् स्वरूप है। सत् में सर्व अर्थ निहित है। जो सत् नहीं

वह अर्थ नहीं। सत् उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है । यह सामान्य दृष्टि से एक है, द्रव्य दृष्टि से अनन्तद्रव्यात्मक है क्योंकि सद्भूत वस्तु प्रत्येक अखण्ड है। उसकी वर्तमान द्वयारी परिणति उत्पाद—व्यय—स्वरूप है । वही परिणति उत्पादस्वरूप हैं, वही परिणति व्ययस्वरूप है। वर्तमान पर्याय में अनन्तर पूर्व पर्याय का अभाव है, अतः व्ययस्वरूप हैं। वर्तमान पर्याय पूर्वसमयमें न थी नवीन ही हुई है अतः उत्पादस्वरूप हैं। सत् वहीका वही अनादि अनन्त है, जिसकी कि पर्यायें बनती रहती हैं, अतः वस्तु इस ही प्रकार सत् स्वरूप है। सत् के कहने में सर्व अर्थ आ गये। अतः सर्व अर्थों की ओर से प्रतिनिधि सत् है। अथवा सभी अर्थ ज्ञानात्मक, शब्दात्मक व अर्थात्मक होते हैं, जिन में सारा विश्व शब्दात्मकता से अहे ज्ञाना त्मकता से सत् है, अर्थात्मकता से सत् है। इस प्रकार संक्षेप से सत् का वर्णन करके उसकी विशेषतायें बताते हुए सूत्र कहेंगे जिन में प्रथम सूत्र कहते हैं—

एकम् । १ । ४ ।

वह सत् एक अथवा एक स्वरूप है। पदार्थ में सत्त्व वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि अनन्त गुण हैं, जिनमें केवल सत्त्व के स्वरूप की दृष्टि से देखा तो विशेष द्रव्य छूट कर, मात्र सत् स्वरूप उपयोग में रह जाता है। वहां सत् एक है।

'एक है' इस विकल्प से रहित एक अद्वैत है। यह सामान्यदृष्टि का विषय है।

### नित्यम् १ । ५

यह सत् नित्य है। सत् अथवा वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है, तब उस वस्तु के सामान्य स्वरूप को देखें तो वह अपरिणामी है, नित्य है परन्तु वह स्वरूप विशेष रहित नहीं है, किंतु सामान्य का स्वभाव नित्य है। कोई भी वस्तु नई उत्पन्न नहीं होती अब जो है वह अनादि से और जो है उसका कभी नाश नहीं होता। अब जो है वह अनन्तकाल तक रहेगा। इस प्रकार सत् नित्य है।

### सप्रतिपक्षम् १ । ६

वह सत् सामान्य दृष्टि से जिन गुणों से सहित है विशेषदृष्टि से उन गुणोंके प्रतिपक्षी गुणों से सहित है। जैसे कि सामान्य से सत् सर्व पदार्थों में स्थित है तो विशेषदृष्टि से सत् एक एक पदार्थमें स्थित है। सामान्य दृष्टि से सत् सर्व विश्वस्वरूप है तो विशेष दृष्टि से सत् एक एक पदार्थ रूप है। सामान्य से सत् अनंत पर्याय स्वरूप है तो विशेष दृष्टि से सत् एक पर्यायस्वरूप है आदि। इस तरह पदार्थ जो है सो ही है, किंतु निरूपण का व्यवहार होने पर एक एक दृष्टि का मतव्य ही क्रमश

निरूमित होता है, अत सत् सप्रतिपक्ष होता है ।

## अप्रतिपक्षम् १ । ७

किंतु यह सत् निज दृष्टि से निज गुण व परिस्थिति मय है उस दृष्टि से उसका प्रतिपक्ष कोई नहा है अन्यथा सर्व निरूपण उन्मत्तवत् हो जायगा । इस कारण जो गुण निज दृष्टि से निज स्वरूप है वह उस ही स्वरूप है, उसका विरुद्ध वहा कोई नहा है अत सत् अप्रतिपक्ष अर्थात् प्रतिपक्षरहित है ।

## अतत् १ । ८

पदार्थ द्रव्य दृष्टि से तत्स्वरूप है,क्योंकि द्रव्य वहीका वही अनत काल तक है, किंतु जब परिणमन की मुख्यता से देखें तब प्रतिसमय यह बात चलती रहती कि यह नहा है वह नहा है, अर्थात् अतत् है । जैसे कि स्थूल पर्यायके दृष्टांत में देखें आत्मा मनुष्य देव आदि पर्यायोंसे परिणमता है तब मनुष्य देव नहीं है,देव अन्य नहीं है आदि ।

## असत् १ । ९

यही सत् सामान्य विशेषात्मक होने से सामान्य स्वरूप की दृष्टि से जो सत् है वह विशेषस्वरूप की दृष्टि से असत् है । महासत्ता अवान्तर सत्ता की अपेक्षा असत् है, अवान्तर सत्ता महासत्ता की अपेक्षा असत् है, क्योंकि ऐसा

प्रत्यय न हो तो सामान्य विशेष वस्प रहित हो जावगे। अत सत् असत् स्वरूप भी है।

## अनेकम् १ । १०

सत् आधार दृष्टि से देखा तो सत् अखड सर्व एक नहा है, किंतु प्रत्येक एक है, अर्थात् जितने द्रव्य है उतने सत्स्वरूप पदार्थ हैं । एक द्रव्य और अन्य द्रव्य के अ त राल मे सत् कुछ नहा है । आनातर सत्ता वाली दृष्टि यह ही है । यदि सत् सर्वथा एक माना जाय तो जो एक सत्का परिणमन है वही सर्वत्र परिणमन हो जायगा सो तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है । किंतु जितना जो द्रव्य है उतना वह सत् है एसी प्रतीति मे कुछ भी विरुद्ध नहा है । जैसे आत्मा एक एक अखंड सत् है तो आत्मामे जो सुख दु ख विचारआदि परिणमन होता है वह सर्वप्रदेशी होता है तथा उस आत्मा से बाहर नही होता । परमाणु मे भी यही व्यवस्था है जो उस मे रूपादि परिणमन होता है वह समस्त एकप्रदेशी परमाणुमे होता है । अत परिणमन विभिन्न व विभिन्नजातीय होने से द्रव्य अनेक हैं इसी कारण सत् भी अनेक हैं।

## क्षणिकम् १ । ११

वह सत् क्षणिक है। यहा पर्याय दृष्टि की मुख्यता है प्रतिक्षण पर्याय अन्य २ होती है, एक क्षण की

द्वितीयसमय में नहीं है, अतः पर्याय दृष्टि से देखा गया सत् चलित है। क्योंकि परिणमन चलित न मानने से वस्तु सर्वथा अपरिणामी हो जायगी और वस्तु अपरिणामी होने पर सारा व्यवहार और अर्थक्रियाशक्ति लुप्त हो जायगी।

## अविभक्तम् १ । १२

प्रत्येक सद्भूत द्रव्य अपनी शक्तियों से सर्वकाल अविभक्त है, अभिन्न है। सर्व शक्तियों का समूह एक पिण्ड पदार्थ है अथवा पदार्थ की जितनी व्यक्तियां हैं उतनी शक्तियां हैं क्योंकि शक्ति के बिना व्यक्ति हो जाए तब किसी भी पदार्थ में अव्यवस्थित (उटपटांग) व्यक्तियां होने लगेगी। अतः पदार्थ अनंत शक्तिमय है और उन समस्त अनन्त शक्तियों से अविभक्त तन्मय है।

## विभक्तम् १ । १३

सद्भूत पदार्थ अपनी शक्तियों से पूर्ण तन्मय है तो प्रत्येक अन्य पदार्थों से पूर्ण पृथक् भी है। ये दोनों बातें परस्पर में साधिका हैं। यदि पदार्थ अपनी शक्तियों से तन्मयता न करता तब अन्यपदार्थों का अवर्तमान भी असिद्ध हो जाएगा। तथा यदि प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थों से ...गुप्त न होते तो अपनी शक्तियों में तन्मयता को प्राप्त हो सकता है। वस्तु की वस्तुता भी यही है कि

स्वरूप का उपादान और पररूपका अपोहन। अत प्रत्येक सन् सद्भूत सब अन्य पदार्थों से भिन्न है।

## अखण्डम् १ । १४

सत् अखण्ड है। जो मखण्ड खण्ड स्वरूप है वह सत् नहीं है, किन्तु सत् की पर्यायमात्र है अथवा प्रलापमात्र है। सत् अखण्डरूप होता है। जैसे एक आत्मा अखण्ड है, एक परमाणु अखण्ड है, धर्मद्रव्य अखण्ड है, अधर्मद्रव्य अखण्ड है, आकाशद्रव्य अखण्ड है व एक कालाणु अखण्ड है। अखण्ड बिना द्रव्य नहीं ठहर सकता।

## सांशम् १ । १५

यह अखण्ड प्रत्येक सत् गुणदृष्टि अथवा पर्यायदृष्टि से अंशसहित है। पर्यायदृष्टि से एक अंश का भिन्न भिन्न काल में अभाव है। गुणदृष्टि से एक एक अंश का अन्य अंशों में स्वभाव की भिन्नता है। गुणदृष्टि से अंश तिर्यग्रूप है, पर्यायदृष्टि से अंश ऊर्ध्वतारूप है। यह सांशपना अपनी सीमा में है और अखण्डपना भी अपनी सीमा में है और ऐसा सांशपना और अखण्डपना परस्पर एक दूसरे का साधक है।

## स्वपरिणतम् १ । १६

प्रत्येक सत् अपने में ही परिणत है। प्रत्येक अर्थ द्रव्य क्षेत्र काल भावस्वरूप है, और अर्थ अपने ही द्रव्य

म, क्षेत्र म, काल म, भाव म परिणमता है। पदार्थ का व्यक्तिया पदार्थ की शक्तियों के परिणमन है। पदार्थ स्वय समग्र तो द्रव्य है उसके प्रदेश क्षेत्र है उसकी परिणति काल है, जिस ? शक्ति की परिणति काल है वह भाव है। पदार्थ की परिणति पदार्थ की निजचतुष्टय की सीमा म ही होती है, अत पदार्थ स्वपरिणत है।

## अस्वापरिणतम् १ १७

प्रत्येक सत् अपने से भिन्न अन्य सत् के द्रव्यादि चतुष्टय म परिणत नहीं होता है। ऐसी ही अनादि से स्वत व्यवस्था है। यदि कोई पदार्थ अन्य पदार्थ की परिणति से परिणमे अथवा अन्य की शक्तिया म परिणम जाय न निर्वाचित पदार्थही रहेगा न अन्य पदार्थ ही रहेगे। अत सत् अस्वापरिणत है अर्थात् जो स्व नहा है एस अन्य सर्व पदार्थों म परिणत नहीं होता है। यहां भी यही प्रक्रिया जानना चाहिये कि स्वचतुष्टय के परिणमन के नियम से परचतुष्टय की अपरिणति सिद्ध होती है और परचतुष्टय की अपरिणति के नियम से स्वचतुष्टय की परिणति सिद्ध होती है।

## स्वभाववत् १ । १८

प्रत्येक सत् स्वभाववान् है। अपने असाधारण गुण बिना सत् ही क्या रहेगा। व किस लिये सत् है ?

अत जीव हो, पुद्गल हो, आकाश आदि हो सर्व सत अपना स्वभाव रखते हैं। वह स्वभाव स्वय अनादि से है। यहा तर्क का कोई विषय नहीं है। जीव का स्वभाव चैतन्य है, पुद्गल का स्वभाव मूर्तत्व है आदि। स्वभाव सदा स्वभाव रहता है स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता है। इस प्रकार प्रत्येक सत् स्वभाववान् है।

## अस्वाभावकम् १। १६

प्रत्येक सत् स्व से भिन्न अस्व अर्थात् समस्त पर के स्वभाव से पृथक् है। सजातीय द्रव्य जैसे जीव जीव, इन में भी एक जीव सत् का स्वभाव अन्य जीव सत् में नहा होता और विजातीय द्रव्य जैसे जीव अणु इन में भी एक का स्वभाव अन्य म नहीं होता है। तभी तो ये द्रव्य रहेंगे अन्यथा कोइ व्यवस्था नहा, और अव्यवस्था होने पर पदार्थ का अभाव हो जावेगा।

## ज्ञानमात्रम् १। २०

जो कुछ भी यहा प्रत्यय किया गया है, वह सब निज का ज्ञानमात्र है। अथवा इस सत् से अपनी अवान्तरसत्ता के विशेषों को परख चुकने पर यही अन्तिम निश्चय है कि म ज्ञानमात्र हू। यह सारा ज्ञान पदार्थों का नहीं किंतु मेरा है। एक द्रव्य के गुणो की क्रिया अन्य द्रव्य में नहीं

मेरा है। एक द्रव्य के गुणों की क्रिया अन्य द्रव्य में नहीं होती, ज्ञान गुण भी मेरा अभिन्न स्वभाव है उसकी क्रिया मुझ में हो हो सकती है। अत यह मारा प्रयय ज्ञान मात्र है।

---

# अथ द्वितीयोऽध्यायः

## तदहम् २ । १

अब सब सत् में सारभूत अर्थ आत्मा है और आत्माओं में भी स्व स्व के लिये सारभूत है। स्व के लिये स्व ही है। अत वह सब सार स्वरूपस मैं हूं। अथवा सगमत् का विगमधारी परीक्षा द्वारा हुआ प्रत्यय ज्ञानमात्र है और वह ज्ञानमात्र मैं हूं।

अब इस ही मैं की विशेषताए बतलाने के लिये सूत्र कहेंगे जिसमें प्रथम सूत्र कहते हैं–

## चित् २ । २

वह मैं चित्स्वरूप हूं, प्रतिभासन का नाम चेतना है, सो यह मेरा अनादि अनत स्वत सिद्ध अभिन्न स्वभाव है। मैं चेतने वाला हूं। मैं परको चेतने वाला हूं –व्यवहारसे। मैं अपने आपको चेतने वाला हूं –निश्चय से। कर्ता कर्म का भेद वस्तु में नहीं है, अत मैं मात्र चेतने वाला हूं – परम निश्चय से। इस प्रकार मैं चित्स्वरूप हूं।

## जीव २ । ४

यह म चेतन चैतन्य शक्ति की दृष्टि से जीव है । चैतन्यमात्र भावका धारण करनेवाला शक्तिका नाम जीवत्वशक्ति है,उस चैतन्यप्राण करि जो जीव सो जीव है । यद्यपि इंद्रिय प्राण, बल प्राण आयु व श्वासोच्छ्वास करि हम जीवने का व्यवहार है परन्तु वह सब विना शक्ति प्राण है और जीव रहता अनादि अनंत, अत चैतन्य प्राण कर जीवने से निश्चय से यह जीव है ।

## आत्मा २ । ५

यह म आत्मा हूं । अतति अन्योति व्याप्नोति जानाति इति आत्मा जो ज्ञान गुण करके सर्व विश्व म व्यापक हो वह आत्मा है । यद्यपि ज्ञानकी ऐसी व्यापकता निर्मलपर्याय म है, तथापि शक्ति तो सर्वदा ऐसी ही तैयार रहा करती है, अत मेरे आत्मा भी इसी शक्ति से आत्मा है । ऐसा ही यह म आत्मा हूं ।

## ब्रह्म २ । ६

यह मैं ब्रह्म हूं । जो अपने गुणों कर वृद्धिमान हो वह ब्रह्म है । यह म ज्ञानादि गुणों के अनंत विकास के स्वभाव को लिये हूं । यद्यपि कषायपरिणामों से इसका तिरस्कार है, तथापि स्वभाव सर्वदा है, इसी कारण थोड़ा

निमी परिणमनका निमित्त करक अन्य पदार्थों म जो हानत हो जाय उसका कर्ता कह दिया जाता है । इसी तरह नर पर्याय म शुद्धता □ तन म अपने शुद्ध स्वभाव परिणति का कर्ता है । और यही अपन योग्य ज्ञान विकास आदि का कर्ता है । तथा राग द्वेष का भी, परिणमन होने से कर्ता है । परन्तु व्यवहारनय से कर्म का व शरीर का कर्ता है ।

## भोक्ता २ । १०

वह म आत्मा भोक्ता है । जितने भी द्रव्य है व सब अपनी अवस्था में रहते हैं, अत सभी द्रव्य भोक्ता हैं, परन्तु यहा चेतन का प्रकरण होने से विशेषतया वर्णन करते है अपनी क्रिया का फल अपने में ही निश्चयत हो पाता है अत निश्चयनय से मै म अपने अनत ज्ञान दर्शन सुख आदि का भोक्ता हूँ (नर पर्याय में निर्मलता आवे) । इस समय वर्तमान ज्ञान सुख आदि का भोक्ता हूँ । तथा रागादि का भी परिणमन होने स रागादि का भोक्ता हूँ । व्यवहारनय से भिन्न बाह्य वस्तुओं के निमित्तमात्र पाकर विकार होते हैं उनके फल का भोक्ता कहा जाता है ।

## अकर्ता २ । ११

वह म आत्मा अकर्ता है । परम शुद्ध निश्चयनय

आत्माको अनादि अनंत सामान्यस्वभावको ग्रहण करता है। इस नय की दृष्टि में भेद भी नहीं है फिर कर्ता का प्रश्न ही नहीं है। इस स्वभाव से म अनादि अनंत एक स्वभाव रूप रहता हू अत अकर्ता हू ।

## अभोक्ता २ । १२

अकर्ता की भांति म अभोक्ता हू । भोगने वाला पर्याय होता है। मात्र स्वभाव के स्वरूप में भोगने की अशुद्धता नहीं। अत परमशुद्ध निश्चयनयसे मैं अभोक्ताहू

## विभु. २ । १३

यह मैं आत्मा व्यापक हू । जैसे ज्ञानगुणकी अपेक्षा में ज्ञानमय हू इसी तरह अन्य गुणो की दृष्टि से म उस उस गुणमय हू । प्रत्येक गुण आत्मा म व्यापक है अत गुण भी गुणो में व्यापते हैं। जैसे सूक्ष्म ज्ञान में है, दर्शनमें है सुखमें है आदि। इस तरह म आत्मा विभु हू । मेरे ज्ञान का स्वभाव भी सर्व का जानने का है। इस दृष्टि से भी म विभु हू ।

## अव्यापी २ । १४

म अव्यापी हू। म प्रत्येक शक्तिमय हू। एक शक्तिका स्वरूप अन्य शक्ति का नहीं है। अत म अव्यापी हूं तथा

म मात्र अपने प्रदेशोमे ही हू अनत ज्ञान अनतसुख आदि शुद्ध परिणमन के काल मे भी मात्र अपने प्रदेशो मे हू। स्वक्षेत्र से बाहर अव्यापी हू । स्वक्षेत्र से बाहर न मेरा द्रव्य है, न गुण है, न परिणाम है, न प्रभाव है अत मै अव्यापी हू ।

## स्रष्टा २ । १५

यह मै आत्मा स्रष्टा हू। अपनी समस्त परिणतियोका रचना करने वाला म ही हू । मै चेतन हू और चैतन्य स्वरूप स्वभाव की दृष्टि से सब सदृश होने के कारण एक हैं और चैतन्य स्रष्टा है अत नयदृष्टियो को न जाननेवाले एक चेतन परमात्मा को स्रष्टा कहने लगे है । परन्तु सत्यता यह है कि सभी चेतन अपनी अपनी परिणतियोके स्रष्टा हैं म अपनी पर्यायो का स्रष्टा हूँ।

## अस्रष्टा २ । १६

यह म अस्रष्टा हूँ। म ध्रुव अनादि अनत हूं। जो ध्रुव तत्त्व है वह परिवर्तन रहित होता है । जहा परिवर्तन नहा है वह न रचा जाता है और न रचने वाला होता है। म चैतन्य सामान्यस्वरूप हू अत म अस्रष्टा हूँ। यहा परम शुद्ध निश्चयनय के विषयभूत अनादि अनत अहेतुक चैतन्यस्वभाव की मुख्यता से निरूपण है ।

## शुद्ध. २ । १७

यह मै शुद्ध हूं । जो ॐ शब्द से वाच्य तत् शब्द से लय मन् मे सारभूत चैतन्यस्वरूप मैं हूं । वह शुद्ध है अनादि से अनंत काल तक स्वरूप का उल्लंघने वाला नहीं है तथा जो मैं सब पर्यायों मे जाता हुआ भी किसी एक पर्यायरूप नहीं होता वह मैं शुद्ध हूं, और ऐसा शुद्ध जो शुद्ध अशुद्ध की सत्ता मात्र को भी सहन नहीं कर सकता, शुद्ध है ।

## अशुद्धः २ । १८

यद्यपि मैं ध्रुव चेतन अनादि अनंत द्रव्य दृष्टिसे शुद्ध हूं तथापि पर्याय रहित नहीं हूं क्योंकि परिणाम रहित वस्तु का अभाव होता है । जो पर्याय की सहिता है वही अशुद्धि है अथवा वर्तमान संसार पर्याय की दृष्टि से तो अशुद्ध रागादिभाव का सम्पर्क होने से तो अशुद्ध पर्याय रूप हूँ । अथवा मुझ में अनेक शक्तियां हैं जिन अनेक शक्तियों के सम्बन्धरूप दृष्टि से अशुद्ध हूं ।

## शक्तिमयम् २ । १९

मैं शक्तिमय हूं । अनंतशक्तियों से रहित मैं कुछ नहीं

हूँ। अथवा मुझमें जो अनन्त शक्तियाँ हैं उनमें से यदि एक भी शक्ति पृथक् हो जाय तो न शेष शक्तियाँ रह सकती हैं और न मेरा ही अस्तित्व है। ऐसी बात होने पर भी शक्तियाँ अपनी कोई पृथक् सत्ता नहीं रखतीं किन्तु मैं अनन्त शक्तियों का अभेदस्वरूप मैं हूँ। अतः मैं शक्तिमय हूँ।

## ज्ञानमात्रम् २।२०

उपर्युक्त प्रकार से कथित यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। मेरा असाधारण स्वभाव ज्ञान है जिससे अन्य सत् से पृथक्त्वकी व्यवस्था होती है। मैं अपनी शक्तियों की या परिणतियों की भी व्यवस्था, मात्र ज्ञान (जानना) ही करता हूँ। अपने अंतरंग कार्य पर पहुँच कर यही पाता हूँ कि मात्र जानता हूँ। अतः मैं ज्ञानमात्र हूँ।

---

# अथ तृतीयोऽध्यायः

## अहम् ३।१

अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने पर मात्र "मैं" का प्रतिभास अनुभव होता है। इस अनुभव में सर्व शक्तिमय आत्मा का अनुभव होने पर भी भेद रूप ग्रहण नहीं है। 'अहं' के अनुभव से पहिले शुद्ध्या भी ना

साक्षी पूर्वक सोऽहं का अनुभव होता था और सोऽहं के अनुभव से पहिले शुद्धात्मा के प्रति 'दासोऽहं' का शुभभाव होता था। अब ज्ञानमात्र अनुभव पहुंचने पर सर्व भेद का प्रत्यय दूर हो गया और अभेद स्वरूप स्वयं का अनुभव होने लगा। उसी अनुभव के सम्बन्ध में कुछ सूत्र कहते हैं—

## आनन्द ३।२

इस स्वानुभव में आनन्द— निराकुलता का परिणमन है अतः मैं आनन्द मात्र हूं। स्वानुभव में स्वाभाविक आनन्द का परिणमन है। यही आनन्द का भोक्ता है। इस व्यक्त भाव की मुख्यता से मैं आनन्दस्वरूप हूं।

## निर्विकल्प ३।३

मैं सर्व विकल्पोंसे रहित हूं। विकल्प मेरा स्वभाव नहीं, क्योंकि विकल्प औपाधिक हैं। केवल ज्ञाताकी परिणति मोहक्षोभ के सकल्प विकल्प रहित है। ज्ञान मात्र अनुभव सहज ही सर्व विकल्पशून्य है। स्वभाव से मैं सर्व विकल्प शून्य हूं। विकल्प अध्रुव हैं, मैं ध्रुव हूं। अतः निर्विकल्प हूं।

## निष्कर्मा ३।४

मैं कर्म-क्रिया रहित हूं। कर्म पुद्गल द्रव्य हैं, उनका

अस्तित्व उन म है, उस से तो रहित हू ही, किन्तु कर्म को निमित्त पाकर जो राग द्वेष आदि कर्म क्रिया होते हैं, वह भी मेरा स्वभाव नहा है। तथा जो ज्ञान क्रिया है, वह ज्ञानन मात्र है, अनाकुलस्वरूप है, अप्रतिपद्ध है, अपृथग्भूत है निरुपधि है अत कर्म मना ही प्राप्त नहा है। म तो मात्र ज्ञाता हू अत निष्कर्मा हू।

## निष्कल ३ । ५

म शरीर रहित हू। शरीर अनेक पुद्गलाणुओं के स्कन्ध का समूह है, वह अचेतन पर द्रव्य है, उससे विपरीत स्वभाव वाला अत्यन्ताभाव वाला म चेतननित्य अमूर्त चैतन्यादि शक्तिमय हू। शरीर का न मैं हू और न शरीर मेरा है, न था न होगा। शरीर म नहीं, मैं शरीर नहा हूँ। मैं चैतन्यमय असाधारण द्रव्य शरीर से पृथग्भूत वस्तु हूँ। अत मैं निष्फल हू।

## निर्विश्व ३ । ६

म विश्वरहित हू। मेरे से अतिरिक्त सारा विश्व मुझ से अत्यन्ताभाव वाला है। सर्वविश्वसे मैं जुदा तत्त्व हू। मैं मैं हू, विश्व विश्व है। मेरे शुद्ध स्वभाव में सार विश्व के आकार प्रतिभासत हैं, तथापि विश्व का ज्ञाता होने पर भी समस्त विश्व से मैं जुदा हू। केवल क

अनुभव स्वरूप है ।

## दिव्य ३ । ७

मैं दिव्य हूँ । ज्योतिर्मय हूँ । यह ज्योति चित्स्वरूप अपूर्व है । मैं अपनेमें क्रीडा करता हूँ, प्रतिभासरूप रहता हूँ, विहार करता रहता हूँ अतः मैं दिव्य हूँ । अथवा मैं देवस्वरूप हूँ ।

## मद्वृत्तिर्देवी ३ । ८

मेरी जो परिणति है वही वस्तु वृत्ति देवी है । मैं दिव्य हूँ, मैं देवस्वरूप हूँ तब मेरी जो परिणति है वह देवी है यह देवी परिणतिरानी मेरे सर्वप्रदेश में है । लोकमें स्त्री अर्धाङ्गिनी कही जाती है । शिवको तो अर्धाङ्ग स्त्री स्वरूप था ऐसी लोगों ने प्रसिद्धि की । किन्तु यहां तो मेरी जो परिणति देवी है वह तो सर्वांगमय उसकाल में है । अब कुछ देवी शब्दों द्वारा परिणति की विशेषता कहते हैं ।

## दुर्गा ३ । ९

मेरा निज स्वानुभवपरिणति ही वस्तुतः दुर्गा है । दुर्गा का अर्थ है दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा दुर्गा । जो कठिनाई से पाई जाय वह दुर्गा है । संसार में भ्रमते हुए जीव को विषय कषाय की परिणति तो सुलभ रहा

किन्तु सर्व विकल्प से रहित आनन्दमय ज्ञान मात्र परिणति अनुभव रही, यही स्वानुभूति दशा है।

## शक्ति ३ । १०

मेरी स्वाभाविक परिणति ही शक्ति देवी है। शाश्वत पदलाभ शक्यते अनया इति शक्ति । जिसके द्वारा अविनाशी महान श्रेष्ठ पद पालिया जा सके वह शक्ति है अथवा मोहादीन् जेतु शक्यते अनया इति शक्ति । जिससे मोहादिक जीत जावें वह शक्ति है। वह स्वानुभव रूप निर्विकल्प दशा द्वारा ही प्राप्य है । अत मेरी स्वभाव परिणति ही शक्ति है।

## चण्डी ३ । ११

मेरी स्वानुभूति ही चण्डीदेवी है। चण्डते खण्डयति भक्षयति विनाशयति रागादि शत्रून् इति चण्डी, जो रागादि शत्रुओं का नष्ट कर वह चण्डी है। ऐसा प्रताप निज अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्य स्वभाव की अनुभूति म है। अथवा चण्डयति ज्वलयति वृद्धिङ्करोति निजस्वभाव मा चण्डी। इस स्वानुभूति म ये दोनों ही विशेषतायें हैं कि अपने स्वभाव का विकास करती है और विभाव का विनाश करती है।

## मुण्डी ३ । १२

यही चैतन्यस्वभावकी अनुभूति ही मुण्डी देवी है। मुण्डते खण्डयति रागादीन् द्रव्यकर्माणि सर्वाणि मलानि इति मुण्डी। जो रागादिक भावकर्म और नाना प्रकारके द्रव्यकर्म व अन्य समस्त आधि व्याधिउपाधि का खंडित करताहै, भेदतीहै, नष्ट करती है,वह मुण्डी है। यह मेरी स्वाभाविक परिणति ही है।

## चन्द्रघण्टा २ । १३

मेरी यह स्वानुभूति परिणति ही चन्द्र घण्टा है। अमृतधारया चन्द्र घण्टयति इति चन्द्रघण्टा। जो अमृतके बहाने में चन्द्रमा को भी उल्लघन करद वह परिणति चन्द्र घण्टा है। अमृत वास्तवम प्रतिमासमात्र परिणमन है। वह ही अमर है, अविनाशी है, तत्सम्बन्धी आनन्द प्रदान म समर्थ स्वानुभूति है अत स्वानुभूति चन्द्रघण्टा देवी है। अथवा चद्र घण्टयति स्पर्द्धते शांतिदानेन इति चन्द्रघण्टा, जो शाति प्रदान से चन्द्रकी स्पर्द्धा करे। चद्र लौकिक दृष्टान्त की अपेक्षा से है, नो सर्व प्रकार शाति प्रदान कर वह अनुभूति ही तो है।

## भद्रकाली २ । १४

भद्र कल्याण कलयति प्रेरयति इति भद्रकाली। जो भद्र अर्थात् कल्याणमय शुद्ध ज्ञानपन्की प्रेरणा

करती है वह भद्रशाली है। वह स्वानुभूति ही है स्वानुभूति से कल्याणपद पानेको प्रेरणा मिलती है और कल्याण पद प्राप्त कर लिया जाता है। अत यह स्वानुभूति परिणति अथवा ज्ञानपरिणति भद्रशाली देवी है।

## अम्बा ३ । १५

अम्यते सूते जनयति स्वकीय सा अम्बा, जो शुद्ध स्वकीय परिणमनको पैदा कर वह अम्बा कहलाती है। यह ज्ञान परिणति ही है। ज्ञानपरिणति ही उत्तरोत्तर शुद्ध ज्ञान के विकास का करती रहती है। अम्बा माता को कहते हैं, माताका अर्थ है मानेवाली परिमाण मे लानेवाला। ज्ञानपरिणति से आत्मा का व जगत का परिमाण भी होता है अत ज्ञानपरिणति अम्बा है। अम्बा का अर्थ रक्षा करने वाली भी है, सो ज्ञानपरिणति ही आत्मा की रक्षा करने वाली है। अत स्वानुभूति ज्ञानपरिणति अम्बा है। वह मेरी ही तो वृत्ति है।

## सरस्वती ३ । १६

सर प्रसरण यस्या सा सरस्वती। जिसका विस्तार हो वह सरस्वती है, ज्ञानपरिणतिका लोकालोक म विस्तार है। मेरी ज्ञानपरिणति ही सरस्वती है। लोकम भी विद्याका स्वरूप सरस्वती की मूर्ति म मानते हैं और ४ हाथ जिस

म थाणा पुस्तर माना आदि हैं मानते हैं। इस व्यवहारका प्रयोजन व्यवहार स्वरूप यह है कि ज्ञान सपादनके मार्ग ४ अनुयोगहैं,प्रथमानुयोग,करणानुयोग,चरणानुयोग,द्रव्यानुयोग। हाथ म वस्तु लिये है वह बाह्य साधन का सकेत है। मनमे महान् प्रकार ज्ञान का है सो यह ज्ञानपरिणति ही सरस्वती है।

## भगवती ३। १७

भग ज्ञान ऐश्वर्य वा अस्या अस्तीति भगवती। जिसके ज्ञान,एश्वर्य हो वह भगवतीहै, यह भी ज्ञानपरिणति ही है। लोक म कहते हैं–भगवती रक्षा करें। वह कोइ भगवान की स्त्री नहा है, किन्तु भगवान परमात्मा की परिणति है। वह ज्ञानपरिणति है। वास्तव मे ज्ञानपरिणति ही आत्मा की रक्षा करने वाली है, अत ज्ञानपरिणति भगवती है।

## निराकुल: ३। १८

उपर्युक्त परिणतिया जिसकी है एसा यह म निराकुल हू। ज्ञानपरिणति म ही निराकुल आत्मा होता है। निज ज्ञान से नाय इतर पर दृष्टि पहु चन से आत्मा निराकुल नहा रह पाता है। यह निराकुलता मेरा स्वभाव ही है। यद्यपि वह वर्तमान म तिरस्कृत है तथापि जिन कारणों से

तिरस्कृत हैं उनके हरने पर जीव निर्बाध निराकुल हो ही जाता है। ऐसी अज्ञान परिणति से भिन्न मैं निराकुल हूं।

## शिवमयम् ३ । १९

उपर्युक्त परिणतियों वाला मैं स्वयं शिवमय हूं। शिव कल्याण को कहते हैं, सुखको कहते हैं। मैं स्वयं शिवमय-सुखमय हूं, स्वभाव ही ऐसा है। अपने से भिन्न मेरा शिव अन्य कोई नहीं है। मैं स्वयं शिवमय हूं।

## ज्ञानमात्रम् ३ । २०

ऐसा मैं सर्व विशेषणों के द्वारा प्रतीत स्वयं ज्ञानमात्र हूं, क्योंकि परीक्षण के बाद मुझमें अन्य कुछ नहीं प्रतीत हुआ। केवल ज्ञानमात्र हूं।

---

# अथ चतुर्थोऽध्यायः

## प्रभु ४ । १

प्रभु दो प्रकार से है, एक वर्तमान निश्चय दूसरा पर्यायशुद्ध। मेरा अनादि अनन्त चैतन्य प्रभु है वह प्रभुत्व पर्यायरूप से होने का सदा स्वभाव रखता है। पर्यायशुद्ध चैतन्यदेव प्रभु है, वह अनन्त शक्तियों के अनन्त विकास

को प्राप्त हो चुका है। हमारा ध्येय पर्यायशुद्ध प्रभु का आलम्बन लेकर भी वर्तमान निगम्य चैतन्य प्रभु का अनन्य उपयोग रखना है। उस ही के विषय में इस अध्याय में सूत्र कहेंगे।

## सर्वज्ञ ४।२

पर्यायशुद्ध प्रभु व्यक्त सर्वज्ञ है और निगम्य चैतन्य प्रभु शक्त सर्वज्ञ है। स्वकीय ज्ञानस्वभाव निरन्तर सबन ज्ञान का उद्यत है। विषय कषाय विभावों के व आवरणों के आगम होने पर सबज्ञ होने में कोई अन्तर नहीं रहता। ऐसा यह पर्यायशुद्ध प्रभु व्यक्त सर्वज्ञ है और यह मुझ शक्त सर्वज्ञ का प्रतिच्छन्द है।

## सर्वदर्शी ४।३

इस ही प्रकार यह स्वयं सर्वदर्शी है। आत्मा प्रतिभासस्वरूप है अतः एव अन्तर्मुखी चेतना में सर्वदर्शित्व स्वयं आ जाता है। पर्यायशुद्ध परमात्मा व्यक्त सर्वदर्शी है और वर्तमान निगम्य परमात्मा चैतन्यरूप शक्त सर्वदर्शी है।

## स्वच्छ ४।४

यह चैतन्य स्वच्छ है। केवल चेतन द्रव्य का ही

द्रव्यो तो वह स्वच्छ गुण अच्छ्र=पदार्थो के स्वभाव सम्पर्के से रहित करान अपने स्वभाव शक्तियों म वर्तमान निर्मल है।

## स्वविलास ४। ५

यह चैतन्य प्रभु केवल स्व का ही विलास करता है। अपने आपकी परिणतिया म इसका रमण है अथवा स्वभावत स्वभाव का हा विलास करता है। अन्य से अत्यन्त रहित है। स्वविहारी है।

## अकार्य ४। ६

यह चैतन्य देव कार्य नहा क्योकि अनादि निधन है अथवा इसका काइ कार्य नहीं क्योकि ध्रु व एकस्वभावी है

## अकारण ४। ७

यह चैतन्य प्रभु कारण नहीं और न इसका काइ कारण है। यह तो अनादि अनत स्वत सिद्ध प्रतिभासक द्रव्य है।

## परिणामी ४। ८

यह चैतन्य देव परिणाम भाव वाला है इसका सर्वस्व भाव मात्र है। यह मूर्ति रहित है अथवा यह चैतन्य देव सर्वथा कूटस्थवत् नित्य नहा है। पर्यायदृष्टि से

परिणमनशील है।

## अन्यून ४ । ६

यह चैतन्य प्रभु न्यूनता रहित है, स्वय पूर्ण है। क्योंकि अनादि सत् है। सर्व शक्तियों में तन्मय है। यह अधूरा नहीं है जो किसी परकी सहायता से यह पूर्ण किया जा सके। स्वय परिपूर्ण है।

## अनतिरिक्त ४। १०

यह चैतन्य द्रव्य अतिरिक्तता से रहित है अर्थात् जितना यह चैतन्य सत् है स्वय, उससे अतिरिक्त इस में और कुछ नहीं है। अन्य द्रव्य का कोई गुण पर्याय इस में था न है न होगा। यह तो सदा अनतिरिक्त स्वय परिपूर्ण है।

## अपरिणामी ४ । ११

यह चैतन्य प्रभु अपरिणामी है। जो अनादि अनत स्वभाव है वह वह ही रहताहै। उसका परिवर्तन नहीं है। सामान्य-स्वभाव दृष्टि से परिणमन नहीं है। चैतन्य परम पारिणामिक शुद्ध अनादि अनत है अत अपरिणामी है।

## निष्क्रिय ४ । १२

यह चैतन्य द्रव्य निष्क्रिय है। परम शुद्ध निश्चयनय से तो कोई क्रिया ही नहीं है और पर्यायदृष्टि से क्रिया है

ना गुण परिणमन मात्र । अत यह चैतन्य प्रभु निष्क्रियहै

## नियत ४ । १३

यह चैतन्य प्रभु नियत है । पर्यायशुद्ध चैतन्य दर पर्यायों से नियत है जो पर्याय एक क्षण मे है वैसी ही सदृश पर्याय अनंत काल तक होवेंगी । निज चैतन्य प्रभु अपने स्वभाव से नियत है । इस प्रकार म चैतन्य नियतहूँ

## अनंतधर्मा ४ । १४

यह चैतन्य प्रभु अनंतधर्म विशिष्ट हैं । मुझ चेतन म अस्तित्व वस्तुत्व आदि साधारण धर्म और चेतनत्व सुख आदि असाधारण धर्म प्रतिसमय वर्तमान हैं । अत यह चैतन्य प्रभु अनंतधर्मविशिष्ट है ।

## विरुद्धधर्मा ४ । १५

यह चैतन्य प्रभु विरुद्धधर्म वाला है । यदि द्रव्य दृष्टि से नित्य है तो पर्यायदृष्टि से अनित्य है, स्वचतुष्टय से सत् है तो परचतुष्टय से असत् है । इस प्रकार सभावित विरुद्ध धर्म भी दृष्टि अपेक्षासे पाये जाते हैं । अत चैतन्य प्रभु विरुद्धधर्मा है ।

## उपाय ४ । १६

यह चैतन्य प्रभु उपाय स्वरूप है । अनादि अनंत अहेतुक चैतन्यभाव का उपयोग पर्याय निर्मलता का उपाय

है। अत स्वय यह चैतयस्वभाव उपाय स्वरूप सदा
वर्तमान है। धर्म यही है, इसका दृष्टि व्यवहार धर्म है
जिसका फल पर्यायनिर्मलता है। अत चैतन्य देव उपाय
भूत है।

## उपेय ४। १७

यह चैतन्य प्रभु उपेय है। जगत के सर्व पदार्थ
अत्यन्त भिन्न है अत व तो कभी उपेय है नहीं, तथा पर
द्रव्य का निमित्त मात्र करके उत्पन्न हुए रागद्वेषादि विभाव
है-व भी औपाधिक अहित है, अत उपेय नहा है।
निज द्रव्यस्वभाव ही उपेय है जहा पूर्ण निराकुलता है।
धर्म करके निर्मल चैतन्यभाव ही वो विकसित (पर्यायगत)
करना है अत यह चैतन्य प्रभु ही उपेय है।

## योगिगम्यम् ४। १८

इस प्रकार चैतन्य तत्व जो उपाय उपेय स्वरूप है,
वह योगिजनो क द्वारा गम्य है, वे इस रहस्य को साक्षात्
अनुभव करते है और अनुभव करते हैं, स्थिरता से। अत
चैतन्यतत्व योगिगम्य है।

## स्वानुभाव्यम् ४। १९

यह चैतन्य तत्त्व जो योगिगम्य कहा गया है सो
स्व के द्वारा ही अनुभव क योग्य है-। योगिजन इसका

योग्य स्थिरता से अनुभव करते ह किन्तु अन्य असयत या सयतासयतआत्मा शुद्ध क्रम काल से अनुभव करते हैं। परन्तु कोइ किसीका अनुभव करा नहीं सकता। अत यह तत्त्व स्वानुभाव्य है।

### ज्ञानमात्रम् ४ । २०

यह सर्व तत्त्व का विचार अन्त म मुक्त होकर निर्विचार अवस्था को उत्पन्न करता है तब यह सर्व ज्ञानमात्र ही वहा प्रतिभासित होता है। वह अनुभव ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्र दशा ही पूर्ण निराकुल है। अत तत्त्वज्ञान मात्र है।

---

# अथ पंचमोऽध्यायः

### सिद्ध. ५ । १

अब व्यक्त शुद्ध परमात्मा के विषय म प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहे जाते हैं–भगवान् सिद्ध हैं। जो अविनाशी पद को प्राप्त हुए हैं उन्हे सिद्ध कहते हैं। य सिद्ध भगवान् पूर्ण निर्मल-द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म से रहित शुद्ध आत्मा सिद्ध है। ये शरीर रहित तथा निम देह को छोड कर मुक्त हुए हैं उस देह प्रमाण निज प्र''''ा म

प्रतिष्ठित लोकाकाशके ऊपर विराजमान सिद्ध परमात्माएँ।

## जिन ५ । २

शुद्ध निर्मल परमात्मा जिन हैं। जो कर्मों को जीते सो जिन हैं। आत्मगुणों का घात करने वाले कर्म चार हैं– ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय। इन चारों कर्मों का क्षय करने वाले परमात्मा जिन हैं। इसके बाद शेष रहे हुए अघातिया कर्मों का क्षय करने वाले सिद्ध भी व्युत्पत्त्यर्थ से जिन कहलाते हैं।

## हरि ५ । ३

परमात्मा हरि हैं। जो पापों को, कर्ममात्र कलंकों को हरले उसे हरि कहते हैं। शुद्ध आत्मा के पाप कलंक नहीं हैं अतः परमात्मा हरि कहलाते हैं।

## हर ५ । ४

जो पापों को हरले वह हर है। परमात्मा भव्य भव्य जीवों के ध्यानके विषय होते हैं और उस निमित्त को पाकर भव्यजीव अपने उपादान की निर्मलतासे पाप कलंकों से दूर हो लेते हैं। यहां निमित्त दृष्टि से शुद्ध आत्मा भक्तों के पापों के हरने वाले हैं अतः परमात्मा हर हैं।

## ईश्वर ५ । ५

परमात्मा ईश्वर हैं। जो परम–उत्कृष्ट ऐश्वर्य करके

सहित हो वह ईश्वर कहलाता है। परमात्माके निज विशुद्ध परिणमन का ऐसा ऐश्वर्य है कि व अपने आप, अपने द्वारा, अपने म परका निमित्तमात्र भी लिये बिना अनत स्वविलास म रहते हैं, अनत सुख ज्ञान के भोक्ता रहते हैं अत परमात्मा ईश्वर हैं।

## परमात्मा ५ । ६

शुद्ध आत्मा परमात्मा है। परमात्मा का अर्थ यह है परा या लक्ष्मी यत्र स परम परमश्चासौ आत्मा चेति परमात्मा। जहा उत्कृष्ट लक्ष्मी अर्थात् निजसंपदा उसे परम कहते हैं, परम उत्कृष्ट आत्माको परमात्मा कहते हैं, परमात्मा सर्व दोष मलों से रहित होने के कारण एव अनत ज्ञानादि से परिपूर्ण व्यक्त होने के कारण परमात्मा है।

## भगवान् ५ । ७

भग अर्थात् ज्ञान जिसके है वह भगवान् है। ज्ञान तो सभी आत्माओ के होता है फिर ज्ञानवान् का अभिप्राय क्या है? उत्तर—उत्कृष्ट निर्मल ज्ञान को भग कहते है। अथवा भग—ऐश्वर्यादि षट्गुणो के समूह को कहते हैं— वह जिसके है वह भगवान् है। अत परमात्मा को भगवान कहते है।

## शिव ५ । ८

परमात्मा शिव है। शिव का अर्थ कल्याण और सुख होता है। परमात्मा सर्वक्लेश और क्लेश के साधनों से अत्यन्त दूर हो जाने के कारण कल्याणमय है, जिनकी आराधना के निमित्तसे अनेक भव्यजीव भी कल्याणमय हो लेते हैं। परमात्मा अनन्त सुखमय है क्योंकि सुख का घातक जो मोह है उसका सर्वथा क्षय हो गया है। अतः परमात्मा शिवस्वरूप है।

## ब्रह्मा ५।९

यह परमात्मा ब्रह्मा है। भगवान् ब्रह्मा स्वयं की निरंतर सृष्टि करते रहते हैं और प्रत्येक जीव की सृष्टि के इस प्रकार निमित्त हैं कि जो भव्य आत्मा उनके सुमुख होता है, उनकी सुमति हो जाती है, और जो चैतन्य प्रभु से विमुख होता है उनकी कुमति हो जाती है। इस प्रकार परमात्मा ब्रह्मा है। इस ब्रह्मा के नित्य उत्पन्न ज्ञान और ये चार सुख रूप हैं।

## विष्णु ५।१०

यह परमात्मा विष्णु है। जो अपने स्वभाव कर लोकालोक को व्याप्त करे उसे विष्णु कहते हैं। चैतन्य प्रभु का सब गुण ज्ञानमात्र है सो शुद्ध निर्मल अवस्था में स्वभाव के विकास का कुछ भी प्रतिबन्धक निमित्त न हो

मपने उ ज्ञानभार सगि लोस अलोस म व्यापरग व प्रभु परमा मा रहत हैं। अत परमा मा विष्णु हैं।

## बुद्ध ५ । ११

शुद्ध आत्मा बुद्ध है। पूर्णज्ञाना है। ज्ञान का स्वभाव ही प्रतिभासना है अत अवश्य ही मारा विश्व परमात्मा के ज्ञान म प्रतिभासता है। अत अनन्तज्ञाना होने ■ परमात्मा बुद्ध है।

## राम ५ । १२

परमा मा राम है। रमन्ते यागिन यस्मिन् इति राम जिस म यागीजन रमण करत हैं उसे राम कहते हैं। भेद विज्ञान और द्वैत य स्वभाव का परिचय होने से पर द्रव्या से हट कर निम निज चैतन्य भाव मे ही योगीजन रमण करत हैं वह विशुद्ध चैतन्य परमात्मा है। अत परमा मा राम हैं।

## ईश ५ । १३

परमात्मा ईश हैं, स्वामी हैं, समर्थ ह। ससार भयभीत आत्माओं का मात्र शुद्ध आत्मा का आराधन ही शरण हैं। अत शुद्ध आत्मा ही उनके स्वामी हैं और आराधकजन साधारण जनों के लौकिक शरण हैं। अत साधारणजनों के, आराधक अ तरात्मा शरण हैं। अत

स्वामी के स्वामा भी होने से परमात्मा ईश है। अथवा अपने शुद्धवैभवके पूर्ण स्वामी तथा अपना अनवच्छिन्न निराकुल परिणतिया म समर्थ होन ■ परमात्मा ईश है।

## सनातन ५ । १४

परमात्मा सनातन है। परमात्मा होन का आविष्कार किसी एक नियत दिनसे नहीं चला, यह विभति अनादि परम्परासे है। अथवा सब आत्माओंमे निरन्तर चैतन्य प्रभु ही किसी दिन रचना नहा हुआ यह अनादि अनन्त है। अत परमात्मा सनातन है।

## परमेष्ठी ५ । १५

परमात्मा परमेष्ठी है। परम–उत्कृष्ट पद मे स्थित होने वाले को परमेष्ठी कहते है। अनत विशालन व पूर्ण निर्मल निर्दोष स्थिति स उत्कृष्ट, जगत म अन्य कुछ नहा है, ऐसे उत्कृष्ट पद म स्थित परमात्मा परमेष्ठी है।

## शम्भु ५ । १६

परमात्मा शम्भु है। श कहिये सुख जिससे प्रकट हो वह शम्भु है। निर्मल आत्मा क सुख गुण से ही सुख का व्यक्ति होती है, तथा शुद्ध सुखमय परमात्मा क ध्यानात्मक रूप कलमयभाव क अविनाभावी सुख का विकास

होता है। अत परमात्मा शम्भु है।

## मुक्तः ५ । १७

परमात्मा मुक्त है। निज रचना में पराधीनवत् यह ससार दृष्टिगोचर होता है, उन व्यक्त एव अनेक अव्यक्त समस्त रचना से मुक्त शुद्ध आत्मा होते हैं। मुक्त विशेषण से यह विशेष बात जाननी कि परमात्मा भी पूर्व पूर्व रचना से मुक्त होकर परमात्मा हुए हैं। ये कभी ससार में नहीं आवेंगे सदा निर्मल और अनत सुखी आदि रहते हैं।

## अर्हन् ५ । १८

परमात्मा अर्हन् है। अर्ह पूजाया धातु से अर्हत् शब्द बना है जिसका अर्थ पूज्य है। शाश्वत सुखमय अनतज्ञान विशिष्ट निर्दोष परमात्मा ही विवेकी ज्ञानी महता द्वारा पूज्य आराध्य हैं। अत परमात्मा अर्हन् है।

## स्वयभूः ५ । १९

परमात्मा स्वयभू है। शुद्ध आत्मा स्वय स्वय के स्वभाव निरालंबे द्वारा स्वय के निराकुल स्वभाव विराम के लिये स्वय की एक परिणति से चल कर स्वय में परिपूर्ण विकसित हुए हैं। अत परमात्मा स्वयभू है।

## ज्ञानमात्रम् ५ । २०

इसप्रकार उक्त विशेषणोंद्वारा प्रतीत यह शुद्ध परमात्मा अन्तरङ्गदृष्टिसे निश्चित क्रियाद्रूप ज्ञानमात्र है। अथवा ज्ञानमात्रतत्त्व परमात्मा है। जहां ज्ञाता द्रष्टाके अतिरिक्त कोई विकल्पका अवस्थान हुआ वह आकुल होनेसे स्वभाव विपरीत होनेसे परमात्मा नहीं हो सकता अत ज्ञानमात्र मात्र परमात्मा है।

# अथ षष्ठोऽध्यायः

## अस्वादपेत्य ६। १

अब इस अध्याय में परमात्मतत्त्व की प्राप्ति के उपायभूत निवृत्ति प्रक्रिया की मुख्यता से सूत्र कहेंगे जिनमें प्रथम सूत्रका भाव यह है-कि जो स्व नहीं है ऐसे समस्त अस्व अर्थात् परपदार्थोंसे हट करके। प्रवृत्ति रूप क्या होना है इसका वर्णन सातवें अध्यायमें होगा। यहां सूत्र में असमाप्तिकी क्रिया इसलिये दी है कि यह सदा लक्ष्य रहे कि इसपर स्वरूपकी प्राप्ति ही कार्य रहता है। इस क्रियाकी समाप्ति इस अध्यायके अन्तिम सूत्र "( अहं ) ज्ञानमात्र ( अस्मि )" में हुई है। अब यह कहेंगे कि वे पर क्या हैं जिनसे हम हटना है। इस मार्ग का इस क्रमसे वर्णन करेंगे कि उत्तरोत्तर सूत्रोंमें अन्तरङ्ग अन्तरङ्ग विषय आता रहे। उन सब परकीय अर्थ से दूर

रहकर ॥ ज्ञानमात्र हूं ।

## जडात् ६ । २

जड अचेतन वस्तुओंसे मैं दूर होता हूँ । मेरा स्वभाव चैतन्य है । जिनमें चैतन्य नहीं है ऐसी वस्तुयें प्रकट विरुद्ध और पृथक् हैं । निगने में और व्यवहारमें ये सब जडपदार्थ आरहे हैं, इन्हींसे सर्व विपत्तियें बनाई जा रहीहैं, अत सर्वप्रथम निश्चिके लिये जड का कहा गया है कि जडसे दूर रह कर मैं ज्ञानमात्र हूं ।

## बन्धो' ६ । ३

बंधु परिवार मित्रजनोंसे भी अलग हट कर ज्ञान मात्र आत्माको देखू । जड अचेतन बाह्य पर द्रव्य तो अत्यत विजातीय थे, उनसे दूरहोनेकी भावना की । अब सजातीय परद्रव्य जो परिजनादिक है वे भी परद्रव्य हैं और उनसे भी कुछ हित नहीं है क्योंकि द्रव्य स्वभाव ऐसा है जो एक दूसरा का कुछ कर ही नहीं सकता। इस कारण मैं बंधुजनोंसे भी उपयोग खींचता हूं ।

## देहात् ६ । ४

यह देह अचेतन है, संसार अवस्था में आत्मा इसके एक क्षेत्रावगाहमें बद्ध है, अत यह देह बंधुजनों की अपेक्षा भी आन्तरिक वस्तु है। इस देह से भी जो निज

वस्तु बद्ध है, उसे उपयोग द्वारा देहसे हटाकर ज्ञानमात्र आत्माको देख । अथवा द्वितीय सूत्रमें जो बंधुका विषय है वह परदेहसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि मूढ आत्मा जैसे निजअधिष्ठित देहको आत्मा मानता है, वैसे पराधिष्ठित देहको बंधुजन मानता है अत परदेह से विरक्ति कराने के बाद निज देह का प्रसंग लिया है।

## शब्दात् ६ । ५

अब देहसे उपरति करके इंद्रियविषयोंका कथन करते हैं इंद्रियोंके विषय ५ हैं स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द । ये विपरीतक्रमसे क्रमश अधिक अधिक आसक्ति, स्पर्शन, एकीलोलता के कारण हैं। अत शब्द से आन्तरिक वर्ण, वर्ण से आन्तरिक गन्ध, गन्ध से रस, रस से स्पर्श हैं। अत प्रथम शब्द विषय से उपरतिका अर्थ सूत्र कहा है। मै शब्दसे हट कर ज्ञान मात्रआत्माको देखूं । क्योंकि शुभ अशुभ दोनों प्रकारके शब्द भिन्न पदार्थ हैं, उनका विषय भाव क्षणिक औपाधिक है।

## रूपात् ६ । ६

मै अप्राप्यकारी चक्षुइंद्रियके विषयभूत रूपसे उपयोगको हटाकर ज्ञानमात्रआत्माको देखूं कल्पनासे माना गया शुभ अथवा अशुभ दोनों प्रकारका रूप परद्र

च्चीय है उससे न मेरा सम्बन्ध है, न हित है, केवल स्पर्श आश्रयमात्र करके किये गये विकल्पासे आत्माके गुण स्वभावकी विकृति है—आकुलता ही है। अत स्पर्शसे उपरत होता हूँ।

## गन्धात् ६ । ७

म गन्धविषयसे हटकर ज्ञानमात्र आत्मा को देखू । स्पर्श विषयकरने वाली नेत्र इन्द्रिय स्पर्श, बिना भिडे ग्रहण करती है, किन्तु गन्ध अपने विषय करने वाली घ्राण द्रव्येन्द्रियसे भिडकर विषय होता है अत स्पर्श गन्ध आन्तरिक विषय है । इस गन्धविषय और उसके ग्रहण का वाद साधनभूत घ्राणेन्द्रियसे भिन्न ज्ञान मात्र निज आत्मतत्त्वका देखू ।

## रसात् ६ । ८

रस से उपयोग हटाकर म ज्ञानमात्र आत्माको देखू । रसका विजय अर्थात् रसनेन्द्रियका विषयका विजय उक्त तीना विषयासे दुष्कर है तथा यह भिड कर हा क्या प्रत्युत रसनेन्द्रिय एव मुखके द्वारा रसवान् पदार्थ का चबाकर मचाकर विषय होता है, आसक्ति का कारण है, अत गध से आन्तरिक रसविषय है । इस रसविषय और इसके ग्रहण के साथ साधनभूत रसनेन्द्रिय स भिन्न

ज्ञानमात्र निज आत्म तत्त्व का दर्शन ।

## स्पर्शात् ६ । ९

स्पर्शविषयक इच्छा रूप में "मैं" ज्ञानमात्र आत्मा का दर्शन । सभी इन्द्रियविषयोंमें स्पर्शनेन्द्रियका विषयस्पर्श अति प्रबल है कामसेवन भी इसी विषयमें है। इस विषय के रागमें आत्मा सर्व कुछ भुला देता है, इसका विजय अति दुष्कर है। इसका विजय प्रबल भेदविज्ञान और चैतन्यमात्र आत्म तत्त्व के दर्शनसे ही सहज है। अतः मैं भेदविज्ञानके बलसे स्पर्श विषय और इसके ग्राहक साधनभूत स्पर्शनेन्द्रिय से हटकर ज्ञानमात्र निज आत्मतत्त्वको देखूं ।

## क्रोधात् ६ । १०

अब इन्द्रियविषयोंसे भी हटकर कषायभावोंसे हटने के लिये दूर रहता हुआ मैं क्रोधभावसे हटकर ज्ञानमात्र आत्मा को देखूं । कषाय ४ होती हैं—क्रोध, मान, माया लोभ। ये क्रमशः आन्तरिक और गहन अधिक हैं। अतः प्रथम क्रोधसे हटनेका उद्यम करता हूं। क्रोध प्रायः व्यक्त और बाह्यमुखी होता है, इस क्रोधभाव से (जो कि कर्मोदय और बाह्य नोकर्म का निमित्तमात्र पाकर व्यक्त होने से क्षणिक और चारित्रगुण के विकाररूप है) हटकर

म ज्रुव ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको देखूं ।

## मानात् ६ । ११

मानकषाय भावसे हटकर ज्ञान स्वभावमय आत्म तत्त्वको देखूं क्रोधकी अपेक्षा मानकषाय विलम्बसे व्यक्त होनेवाला भाव है यह यद्यपि दृष्टि रखता हुआ भी विभावरूप मलिनान्मुखी भाव है, तथा क्रोधक्षयके अनतर मान क्षय होता है, इन कारणा से मान क्रोध की अपेक्षा आन्तरिक है । म मानकषाय भाव से भिन्न ध्रुव ज्ञानमय आत्म तत्त्वको देखू ।

## छलात् ६ । १२

छल विभाव से हट कर ज्ञानमय आत्मतत्त्वको देखू । मानकषायके उदयमे परपदार्थ पर दृष्टि है और अन्य लोगोंमे विनयादि प्रवृत्ति करानेका भाव है । माया कषाय मानकषायकी अपेक्षा अव्यक्त है, अपने आपमे गुन गुनानेका भाव लिये हुए है, मानकषाय के क्षयके बाद माया-छलका क्षय होता है आदि कारणोंसे माया कषाय मानकषायकी अपेक्षा आन्तरिक है । इस छलभाव से भिन्न ध्रुवज्ञान स्वभावमय आत्मतत्त्वको देखू ।

## लोभात् ६ । १३

लोभविभावसे हटकर ज्ञानमय आत्मतत्त्वको

देखूं। लोभकषायका विषय केवल बाह्य पदार्थ नहीं, अपनी प्रतिष्ठा, सम्मानेच्छा, अपनी परिणति या रचना आदि सब ही लोभकषायके रूप हैं। लोभकषायका क्षय अन्तमसंज्ज्वलमोहक क्षयके बाद हो पाता है, लोभ की रङ्गत मलिन विभावको अपनाती हुई रहती है आदि कारणों से अन्य सर्व कषायोंकी अपेक्षा आन्तरिक हैं। मैं अध्रुव औपाधिक लोभकषायसे हटकर ध्रुव ज्ञानस्वभाव मय निज आत्मतत्त्व को देखूं।

## तर्कात् ६। १४

मैं तर्कविचार विभावसे हटकर सत्य मात्र आत्म तत्त्व को देखूं। विचारके परिणाम तर्कणाका के विकल्प क्षायोपशमिक भाव हैं। इनकी शाश्वत स्थिति नहीं है, एक कल्पना परम्पराके अन्तर्मुहूर्त तक ही रहती है। ये ज्ञानाग मात्र है, आत्मस्वभावके अनुरूप नहीं है। अतः समस्त तर्क ध्येय भूत ज्ञान स्वभाव से भिन्न स्वरूप है। ये मानान् ज्ञान गुण विकार तो नहीं है, परन्तु अन्य है, मोह के सम्बन्ध से विपरीत कार्य के कारण भी हो सकते हैं अतः उपर्युक्त सभी अर्थ न विभावास तर्क आन्तरिक हैं इस तर्कभावसे हटकर तर्क से विलक्षण अखण्ड पूर्ण ज्ञान स्वभावमय आत्मतत्त्व को देखूं।

## भक्तेः ६ । १५

भक्तिरूपपरिणाम से भी पृथक् ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को देखो। वीतराग भगवान्‌के गुण व शुद्धपर्यायों में लगी हुई परिणति भक्ति है, अतः निराग निरञ्जन की भक्ति आन्तरिक है तथापि पराश्रित अर्थात् परको विषय करती हुई तथा क्षायोपशमिक ज्ञान का अवलम्बन है तथा अनित्य है। इस भक्तिरूप शुभोपयोगरूप भाव रूप विभाव से भी हटकर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व को देखो।

## ध्यानात् ६ । १६

इस ध्यानभावरूप क्षायोपशमिक परिणामसे विलक्षण ज्ञान स्वभावमय आत्मतत्त्वको देखो। ध्यान एकाग्र चिन्तानिरोध को कहते हैं। भक्तिभाव तो परोक्ष भाव को लिये हुए हैं तथा अनेक विचारको चलाते हुए रुचिको विस्तारता हुआ है, किन्तु ध्यान रागद्वेष का पक्षपात न करता हुआ भी तत्त्वस्वरूपक विचाररूप एकाग्रचिन्ता निरोधमय रहता है। अतः भक्ति परिणामसे ध्यान परिणाम आन्तरिक है। यह ध्यान परिणाम कर्म के क्षयोपशमादि आलम्बनसे होता है अतः अध्रुव है। सो इस ध्यान परिणामसे पृथक् ज्ञानस्वभावमय अपनेको देखो।

## ज्ञेयमात्रात् ६ । १७

उपयु क्त मर पदार्थ और भाव ज्ञानस्वरूप न होनेसे ज्ञेय हैं अत सर्वज्ञेयभावसे चाहे वह पर-पदार्थ रूप हो वं आत्मा गुणों क विकाररूप अथवा आशिक गुणपर्यायरूप हो सभी ज्ञेयभाव से उपयोग हटाकर अनादि अनत अहेतुक ज्ञान स्वभावमय आ मतत्त्वको देखू ।

## ज्ञानव्यक्ते ६ । १८

मति, श्रुत अवधि, मन पर्यय, केवल ज्ञान इस प्रकार ज्ञान की ५ व्यक्तियां हैं । य पाचों पर्याय हैं । पर्याय आ मस्वभाव नहीं है । इन पर्यायों पर होने वाली दृष्टि स्वभाव की अपेक्षा परको विषय करनेवाली है । स्वभाव अनादि अनन्त है किन्तु कोई पर्याय अनादि अनन्त नहीं होता । केवल ज्ञानपर्याय प्रवाहसे अनन्त है किंतु अनादि नहीं । तत्त्वत केवल ज्ञानपर्यायभी क्षणिक है, क्योंकि शुद्ध अवस्थाम ज्ञानकी व्यक्ति व वृत्ति प्रति समय नवीन है । म सर्वज्ञान व्यक्तियोंसे लक्ष्य हटाकर ज्ञानस्वभावमय आत्मतत्त्व को ही देखू ।

## ज्ञेयाकारात् ६ । १९

ज्ञान जब अपना वर्तमान वर्तन रखता है तो कुछ झलक ग्रहण स्वरूप रखता है । ज्ञान जानने की वृत्ति

रखता है। ज्ञानके स्वपर वस्तुका विषय करक होता है। इसका कारण स्वच्छता है। ज्ञानकी वृत्ति ज्ञानगुणमें ही होती है। अतः ज्ञानका असर बाह्यपदार्थोंमें तो नहीं होता है किंतु बाह्यपदार्थ जिसप्रकार वर्तते हैं वैसे ही आकार स्वरूप के आकार को धरते हुए निज पर्यायोंमें होता है। इस प्रकार ज्ञेयाकार ज्ञानगुण के क्षणिक परिणमन के अभिन्न आश्रय हैं। मैं ध्रुव ज्ञानस्वरूप हूँ, अतः ज्ञेयाकारों से उपयोग हटाकर ध्रुव ज्ञानस्वभावमय आत्मतत्त्व को दखूं।

## ज्ञानमात्रम् ६।२०

उक्त प्रकार सर्व अन्य-पर व निज पर अर्थ, भावोंसे हटने के बाद आत्मतत्त्व ज्ञानमात्र व्यवस्थित होता है। मैं वह ही ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूं। मैं अनंत शक्तिमय हूँ किंतु समस्त अनंत शक्तियों का कार्य ज्ञानव्यवस्था के अर्थ है। अतः मैं ज्ञानमात्र हूं।

---

# अथ सप्तमोऽध्यायः

## तं लब्धे ७।१

उक्त प्रकार से समस्त पर व परभावोंसे उपयोगको

स्वभाव के, द्रव्य एवं शुद्धपर्याय की पावनतासे सुनिश्चित किये गये निज आत्मस्वभावको देखूं। यह आत्मस्वभाव अन्तरंग में सदा प्रकाशमान है, किन्तु लक्ष्य इस पर अब तक नहीं जाता उस उपयोगके लिये तो उसकी प्राप्ति अत्यन्त दूर है। अब मैं उपयोग का विषय कोई परभाव न बनाकर केवल आत्मस्वभाव को देखूं जो कि सहज ज्ञानानन्दमय है।

## ज्ञातम् ७।२

स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा ज्ञात उस आत्मस्वभाव को देखूं। क्योंकि बिना जाने हुए पदार्थका लक्ष्य नहीं बन सकता। इस आत्मस्वभाव के ज्ञान के लिये प्रथम तो भेद विज्ञान आवश्यक है, क्योंकि अनादि परम्परा बद्ध कर्मसंयोगवश हुए अज्ञान के मिश्रित स्वाद को करनेवाले जीवका भेद विज्ञान बिना आत्मस्वभाव को जुदा करना अशक्य है। भेद विज्ञान के पश्चात् ही निश्चयनयके अवलम्बनसे केवल आत्मस्वभाव का संवेदन करना होता है इसलिये समस्त परभावोंसे हटकर स्वसंवेदनसे ज्ञात भी उस आत्मस्वभावको देखूं।

## स्वजातम् ७।३

समस्त परभावों से हटकर स्व में ही ...

आत्म स्वभाव को देखू । यह आत्मस्वभाव अहेतुक है, अत कोई नया भाव नहीं है और न उत्पन्न होता है, किंतु अनादि से स्व म ही वर्त रहा है, तथा जब भी विकास परिणमन होता है तो स्व म ही होता है, अत यह आत्म स्वभाव स्वजात है ।

## प्रतिभातम् ७ । ४

समस्त परभावोंसे हटकर प्रतिभात हुए आत्मस्वभाव को देखू । यह आत्मस्वभाव जब तक नानाकी कल्पनाओं से घिरा रहता है, तब तक आत्मस्वभावका स्वभावका दृष्टि से परिचय नहा हो पाता है । किन्तु जब प्रतिभासमात्र रह जाता है, तब आत्म स्वभाव की अनुभूति होती है और उसके पश्चात् निर्विकल्प अवस्था म आवे तब सुपरिचय का नाता बना रहता है। ऐसे प्रतिभास आत्मस्वभाव का ही मैं लक्ष्य रखू ।

## भूतार्थम् ७ । ५

भूतार्थनय के विषयभूत, भूतार्थस्वरूप केवल सत्य आत्मस्वभाव को देखू । जैसा स्वय हुआ वर्तरहा अर्थ है, उस भाति हा मै हू । अथवा जो अनादि से सत् स्वरूप अर्थ है उस रूप म हू । पराश्रित भवपरिणतियुक्त मै आत्मस्वभाव नहीं हू । स्वय भूत भाव सामान्यस्वभावी

चैतन्य में हूँ। सो भूतार्थ निज आत्मस्वभाव को मैं समस्त परभावों से हटकर लख।

## सत्यार्थम् ७ । ६

सत्यार्थ स्वरूप आत्मस्वभाव का लक्ष्य करू । यह चैतन्यमात्र ही सत्यार्थस्वरूप है अनादि अनंत एक स्वरूप हितमय सर्वाकुल है। 'सति भव अर्थ सत्यार्थ' जो निजके स्वय सत् म स्वय हो, एसा भाव सत्यार्थ है। परके आश्रय बिना सदा निश्चल होनेसे सदा सत्य स्वरूप यह चैतन्यभाव ही आराध्य है। इसकी- आराधनासे परमोत्कृष्ट सिद्ध पदकी भी प्राप्ति हो लेती है । एसे सत्यार्थ स्वरूप आत्मस्वभाव का म लक्ष्य करता हू।

## परमार्थम् ७ । ७

सर्व अर्थों में उत्कृष्ट अर्थ स्वरूप निज आत्मस्वभाव को देखू । जगत म अनतानत चेतन अचेतन द्रव्य हैं। उनम सारभूत चेतन द्रव्य ह, उनम भी अपने लिये सार एव शरणभूत निज आत्मद्रव्य है । वह अभेद स्वभाव से अनुभवमे आया हुआ आत्मस्वभाव रूपहै। एसे परमार्थस्वरूप निज आत्मस्वभाव को देखू ।

## स्वार्थम् ७ । ८

स्व के सर्वप्रयोजनभूत आत्मस्वभाव को देखू निज आत्मस्वभाव ही सर्व प्रकार से अपने हित के अर्थ प्रयोजन भूत है। समस्त परभावों से विरक्त उपचित होकर

निज चैतन्यस्वभावका अवलोकन व स्वभावमें उपयोग का अवस्थान होना यही सच्चा आत्मा का स्वार्थ है। तथा यही स्व अर्थ है। ऐसे आत्मा के स्वभावमय निज प्रयोजन स्वरूप अपने आपको देखूं।

## अबद्धम् ७।९

सर्वप्रकारक कर्ममलोंके एवं औपाधिक भावों से अबद्ध निज आत्मस्वभाव को देखूं। आत्मस्वभाव स्वभाव ही है, उसमें कर्मोंका बन्धन नहीं है और न औपाधिक भावोंकी स्थिति है, ऐसे अबद्ध आत्मस्वभावको ही मैं देखूं। जैसा घोड़ा साकलों से बंधा है ऐसा कहने में वहां सांकल के एक छोरसे घोड़ेका गला मरोड़ कर दोनोंका बन्धन नहीं है, वहां सांकल के एक छोरसे सांकलका ही दूसरा हिस्सा बंधा हुआ है। इस तरह द्रव्यको द्रव्यमें देखनेपर यह स्पष्ट है कि अमूर्तआत्मा मूर्त कर्मों से बंधा हुआ नहीं है। कर्मसे कर्म ही बंधते हैं। ऐसे स्वरूप दृष्टिमें सदा अबद्ध निज आत्मस्वभाव को देखूं।

## अस्पृष्टम् ७।१०

सर्व परद्रव्य व परभावों से अछूते इस आत्मस्वभाव का ही लक्ष्य हो। चैतन्यभावमें कोई परपदार्थका प्रवेश नहीं और न विकारभावों का इसमें अधिकार है। क्योंकि

स्वभाव तो अपने स्वभावही है स्वतत्र है। जैसे जलमें रहता हुआ बिसनीपत्र जल से छुआहुआ नहीं है। बिसनीपत्र तो अपने स्वभावसेही वर्त रहा है। ऐसेही आत्मस्वभाव निर्मी शरीर आदिसे छुआ हुआ नहीं है। ऐसे अस्पृष्ट निज आत्म स्वभाव को मै देखूं।

## अनन्यम् ७ । ११

जो अन्य अन्य नहीं किन्तु अनन्य एकस्वरूप है, ऐसे आत्मस्वभावको मै देखूं। स्वभाव अनादि निधन, एक स्वरूप निश्चल है। वह समय भेद से अन्य अन्य नहीं है। अन्य अन्य तो पर्याय क्रियामात्र है। जैसा मिट्टी के घट आदि स्तानेम पिंड पिंडोला घट कपाल आदि अन्य अन्य है, परन्तु मिट्टी के स्वभाव की ओर से देखो तो वह अनन्य है। ऐसे आत्मस्वभाव दृष्टि से देखा गया निज आत्मपदार्थ भी अनन्य है। उसे अभेद स्वभाव से देखो ज्ञान पर परिचयमें आयाहुआ आत्मस्वभाव अनन्य है। ऐसे अनन्य आत्मस्वभाव को अवलोकूं।

## नियतम् ७ । १२

अनियत समस्त पर भावों से हट कर नियत आत्मस्वभाव को देखूं। यह आत्म स्वभाव नियत है समस्त परिणतियां-व्यक्तियां मात्र जो कि क्षणिक

अनियत है । जैसे समुद्रका जलस्वभावसे देखने पर वह नियत ही है किन्तु हवा आदि का निमित्त पाकर उठी हुई तरंग या भवरों की दृष्टि देखने पर अनियत है, वहा भी जलस्वभाव तो नियत है । इसी प्रकार यह आत्मस्वभाव शाश्वत नियत है । मात्र उपाधि या निमितमात्र पाकर हुए विकारभाव अनियत हैं जो कि क्षणिक हैं । ऐसे नियत आत्मस्वभावको देखूं ।

## अविशेषम् ७ । १३

विशेष–भेद रहित अभिन्न आत्मस्वभाव को लखूं । पदार्थ तो पदार्थ ही है, वह अखण्ड एक है । जैसे सुवर्ण में स्निग्ध पीत आदि भेदों के देखनपर ही भेद प्रतीत होते हैं, परन्तु जितना वह सुवर्ण है सब को एक साथ परिचय में लाने पर ये भेद अभूतार्थ हो जाते हैं । इसी प्रकार यह आत्म अंश दृष्टि से तो ज्ञानवान, दर्शनवान आदि भेदरूप प्रतीत होता है, परन्तु समग्र आत्मा को परिचय में लाने पर ये सब भेद अभूतार्थ हो जाते हैं । यह पूर्ण आत्मा आत्मस्वभावमय है । आत्मस्वभाव चैतन्य भी विशेष भेद कल्पना से पर है । ऐसे अविशेष चैतन्यस्वरूप आत्मस्वभाव का मैं अवलोकूं ।

## असंयुक्तम् ७ । १६

समस्त परपदार्थों व परभावों से हट कर मैं असंयुक्त

शुद्ध आत्मस्वभावका अवलोक आत्मस्वभाव असंयुक्त है। यह स्वभाव किसी भी परमाणु संयोगसे नहीं है। पर्याय क्षणिक हैं, उनका सदैव स्वभावके साथ नहीं है, क्योंकि स्वभाव तो अनादि निधन एक स्वरूप है पर्यायें क्षणिक और अन्य अन्य हैं। जैसे स्थूल दृष्टि वाले जल में जो अग्नि का निमित्त पाकर उष्णता होती है, वह जल के स्वभाव में नहीं है। वैसे ही आत्मा में होने वाले क्षणिक भाव भी ... ... आत्मस्वभाव नहीं है। इस तरह ... संयोग से रहित असंयुक्त आत्मस्वभावका ... ।

## अजम् ७। १५

समस्त नामभाव विकारभावों से ... स्वभाव को अवलोक। यह आत्मस्वभाव ... है। यह पैदा नहीं हुआ अनादिसे ... है। अब होनेके कारण एवं अपने गुणोंमें ... स्वभाव रखनेके कारण यह अज है। ... आत्मस्वभावका ... अवलोक।

## अनन्तम् ७। १६

मैं अनन्त आत्मस्वभाव ... । आत्मस्वभाव अनन्त है। ... ज्ञान में कभी अंत नहीं आता। चैतन्यभाव के

अन्य है १ ज्ञान, २ दर्शन इनके विराम व योग्यता की भी अन्त-सीमा नहीं है अतः चैतन्यभाव अनंत है । ऐसे अनंत आत्म स्वभाव का लक्ष्य रहे जिससे पर्याय भी अनंत होती है।

## गुप्तम् ७ । १७

म इन्द्रिया द्वारा प्रकट सर्व पर व परभावों से उपयोग हटाकर गुप्त आत्मस्वभाव का लक्ष्य करें । यह आत्म स्वभाव सदा वर्तमान रहकर भी गुप्त है । इन्द्रिय मन के द्वारा अगम्य है । स्वसंवेदनभाव के द्वारा गम्य है। इसके गुप्त होनेका ढंग यह बन गया है कि परिणति या उपयोग भरको ही आता है परन्तु उपयोगको समग्र पदार्थ प्रदेशों में तन्मय होजाती है, इन विशेष विकारों के कारण यह आत्मस्वभाव गुप्त हुआ है और केवल स्वसंवेदन द्वारा गम्य एवं लौकिकजनों द्वारा अगम्य होने से गुप्त आत्म-स्वभाव को मैं अवलोकूं ।

## स्वयम् ७ । १८

गुप्त वह आत्मस्वभाव मैं ही स्वयं हूं । मोहभाव के कारण ही लौकिकजनों का 'स्वयं' अप्रकट है । किन्तु परभाव के विवेक करने वाले भव्य का स्वयं स्वसंवेदन ज्ञान द्वारा प्रकट है । यही स्वयं स्वयं के लिये महान् है। ऐसे स्वयं आत्म स्वभावमय निज पदार्थ को

अवलोक ।

## सहजम् ७ । १६

स सहज आत्मस्वभाव को अवलोक
स्वभाव सहज है। स्वाभाविक है।
शब्दार्थ कहते हैं 'सह जायत इति सहजम्'
स ही तो है वह सहज है। उत्पादक न
अहेतुक है। जो अहेतुक है वह स्वाभा
सहज आत्मस्वभाव चैतन्य भाव का मैं अ

## ज्ञानमात्रम् ७ । २०

इस प्रकार नाना स्वगत प्रतिभास
तत्त्व व्यवस्थित है। सर्व विकल्पों
स्वभाव जब अनुभूत होता है तब
सब विकल्पों से अतीत ज्ञानानुभव

—०—

# अथ अष्टमोऽध्याय

## तल्लक्षणानि ८ । १

मैं उस ही ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप हूँ।
अध्याय में ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप
प्रतिपादित की है। सर्वप्रथम
लिये आत्मस्वभाव सदा

विषय में यह सूत्र है कि मैं आत्मस्वभाव को सुनूं। आत्मस्वभाव अमूर्त है, उसके स्वरूप का निरूपण करनेवाले वचनों के श्रवण से यहां तात्पर्य है। अन्य सब से हटकर मात्र ज्ञानस्वभाव की ही बात सुनूं। यह आत्मस्वभाव के परिचय का प्रारम्भ है।

## अवगृह्णीयाम् = । २

मैं उस ज्ञानस्वभाव का अवग्रह करूं। श्रवण द्वारा आत्मस्वभाव का साधारणतया परिचय पाकर अवग्रह (प्रारंभिक) ज्ञान की यहां भावना की है। संसारी जीवने अनादि से पर विषयक अवग्रह किया अर्थात् ज्ञान किया और ग्रहण किया। कदापि आत्मविषयक बात जीव ने सुनी नहीं और सुना भी हो तो भली भांति अवग्रह नहीं किया। आत्मस्वभाव का यथावग्रह होना द्वितीय परिचय है। मैं आत्मस्वभाव का अवग्रह करूं।

## धारयानि = । ३

मैं उस आत्मस्वभाव की धारणा करूं। किसी अर्थ के अवग्रह के बाद यदि धारणा नहीं होती दृढता से ज्ञान नहीं होता वह उपयोग से छूट जाता है। अतः अवग्रह के बाद हृदयाङ्गम करने की भावना की है कि मैं उस ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव के जिसकी कि प्राप्ति समस्त पर-भावों से निवृत्ति होने के फलस्वरूप है धारणा करूं।

## ब्रुवाणि ८ । ४

मैं आत्मस्वभाव को ही बोलू । जारण क बाद उस तत्त्व से निरूपण करने की सामर्थ्य प्रकट होती है। जिसे जिसकी धारणा और रुचि होती है व गीत भी उसी व ही गात ह, एसा प्राकृतिक सम्बन्ध है। अनादि सस्कारवश चले हुए राग के कारण वार्तालाप चलता है, सो भेर यदि काइ वातालाप चल ना आत्मस्वभाव विषयक चले, तात्त्विक उपयोगता व उपयागकी सफलताना मूल इस नो

## गच्छानि ८ । ५

म आत्मस्वभाव को ही जाऊ पाऊ । जानने का घोलन का फल किसी पद जगह टिकना, टिकाना है। वह पद आत्मस्वभावहीहै । जगतम अन्य काइ स्थान जाने,पाने याग्य नहा है। केवल निज ज्ञान स्वभाव ही पानेयोग्य है। वस्तुत यह आ मा भिन्न द्रव्यको तो पाता ही नहीं है। क्योंकि किसी अन्य द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यमें प्रवेश नहा है। प्रश्न जो आपमें है, वह है ही उसके लिये क्या जाना क्या पाना ? उत्तर-है ता वह स्वय म किन्तु उसका उपयाग नहा किया अत नवीन पद है उसे उपयोग करके हा जाना पाना है।

## जानीयाम् ८ । ६

उस ज्ञानभाव का मनभाव करूं ज्ञान करू। यहाँ मानन से तात्पर्य अन्तरङ्ग रुचि पूर्वक जानने से है। किसी जीव ने यदि आत्मस्वभाव की बात सुनी धारणा की उसको याद रखना भाग तथापि सारज्ञान बिना वह सब प्रयत्न निष्फल रहा। अतः भावज्ञान पूर्वक जानना आवश्यक है। मैं उस ज्ञानभाव आत्मस्वभाव भाव ज्ञान के अवलम्बन से शुद्ध परिणामी होकर जानूं।

## मन्ये ८ । ७

मैं उस ज्ञानभाव आत्मस्वभाव को मानूं। जाननेके साथ यही मैं हूं इस अन्तः स्वीकृति को मानना कहते हैं। चैतन्य स्वभाव की स्वीकारता बिना यथार्थदृष्टि का होना असम्भव है और यथार्थदृष्टिके हुए बिना संसारक्लेश का दूर होना अत्यन्त असम्भव है। अतः यह चैतन्य आत्म स्वभाव ही ध्रुव एक रूप अनादि अनंत नित्य स्वभाव होने से मैं हूं इस स्वीकारता के साथ ज्ञानस्वभाव को मानूं।

## इच्छामि ८ । ८

इस आत्मस्वभाव को ही मैं चाहूं। संसार का मूल चाह है। चाह में भी परवस्तु विषयक चाह संसार वर्द्धक ही है परवस्तु वास्तवमें न चाही जाती न प्राप्त होती, तथापि तद्विषयक वाञ्छा जो कि व्यर्थ ही है संसार का मूल है। इस चाह में [illegible] बीता।

ग्राभम इस चाहका विनाश करनेका ममार विरोधी भाव जो चैतन्यभाव उसकी चाह होती है। पुन नाने माने गए हा चाह होती है। सो इस ममभम केवल आत्मस्वभावको हो चाह। इस आत्मस्वभावके आश्रय म हा सर्वसिद्धि है।

## रोचे = । ६

इस आत्मस्वभावकी ही म रुचि करू। चाह की हो विशेष परिणति रुचि है। आत्मस्वभाव की रुचि को व्यवहार स निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है। मिथ्यात्व के उदय में परतत्त्वविषयक रुचि होती है। विपरीत अभिप्राय अर्थात् पर्यायबुद्धि दूर होते ही आत्मरुचि जागृत होता है। म आत्मस्वभाव की ही रुचि करू।

## प्रत्येमि = । १०

म आत्मा स्वभाव की ही प्रतीति करू। रुचि के साथ दृढ ज्ञान सहित तत्त्व विश्वासकी परिणति प्रतीति है। आत्मस्वभाव बिना अन्य द्रव्य कार्य भी कुछ भी हितकारी नहीं है। इस ज्ञानमात्र आत्मस्वभावकी ही प्रतीति है।

## श्रद्दधामि = । ११

इस चैतन्यभाव की ही श्रद्धा करू। तत्त्वार्थमय

उस ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव को जानूं। यहां जानने से तात्पर्य अन्तरङ्ग रुचि पूर्वक जानने से है। किसी जीव ने यदि आत्मस्वभाव को जाने बिना मुनि व्रत धारण कर उसका यत्न करना चाहा तथापि भावज्ञान बिना यह सब प्रयत्न निष्फल रहा। अतः भावज्ञान पूर्वक जानना आवश्यक है। मैं उस ज्ञानमात्र आत्मस्वभावको भाव ज्ञानके अवलम्बन से दृढ़ परिणामी होकर जानूं।

## मन्ये ८ । ७

मैं उस ज्ञानमात्र आत्मस्वभावको मानूं। जाननेके बाद यही मैं हूँ इस अन्तः स्वीकृति को मानना कहते हैं। चैतन्य स्वभाव की स्वीकारता बिना पर्यायदृष्टि का हटना असम्भव है और पर्यायदृष्टिके हटे बिना संसारक्लेश का दूर होना अत्यन्त असम्भव है। अतः यह चैतन्य आत्म स्वभाव ही ध्रुव एक रूप अनादि अनंत निज स्वभाव होने से मैं हूं इस स्वीकारता के साथ ज्ञानस्वभाव को मानूं।

## इच्छामि ८ । ८

इस आत्मस्वभाव को ही मैं चाहूँ। संसार का मूल चाह है। चाह में भी परवस्तु विषयक चाह समाग वर्द्धक ही है परवस्तु वास्तवमें न चाही जाती न प्राप्त होती, तथापि तद्विषयक वाञ्छा जो कि व्यर्थ ही है संसार का मूल है। इस चाह में [illegible] बीता।

इति वनारर उसका स्वाद लू । अहो पर्याय बुद्धिवश अनतकाल तक निजस्वभाव की परिणति होकर भी उपयोग स्वभावको न छू सका था। अब ध्रुव स्वभाव की पहिचान हुई सो इसी स्वभाव से लगाहुआ बना रहू ।

## प्राप्नुवानि ८। १५

म इस आत्मस्वभाव को ही प्राप्त करु । जगत म कोई अन्य वस्तु शरणसार नहा है । जिसके पाने का उद्यम किया जावे। एक निज आत्मस्वभाव ही ऐसा तत्त्व है जिसका स्वाभाविक विकास ज्ञान आनन्द से व्यक्त परपूर्ण है, इस ही आत्मस्वभाव को म पाऊ ।

## प्रतपानि ८। १६

इस ही चैतन्यभावमें म तपू । अर्थात् स्थिर होकर देदीप्यमान होऊ । आत्मस्वभावके भाव बिना यह जीव बाह्य आतपमें तपता है, किंतु अपने चैतन्यस्वभाव में नहीं तपता। वास्तविकतप ज्ञाता द्रष्टा बने रहनेका है सो ज्ञाता द्रष्टा रह कर चैतन्य स्वभाव में प्रतपू ।

## अनुभवानि ८। १७

जैसा चैतन्य स्वभाव है उसके अनुसार होनेका अनुभव कहते हैं म चैतन्यस्वभाव की विशुद्ध स्थिति को ही सोचू, मानू, एकाग्र चिंता निरोध करू स्पर्श, पाऊ,

प्रतीति के बाद उसमें इस प्रकार ज्ञानभाव से घुलना कि उसकी धारणा या उसका संस्कार निरंतर बना रहे ऐसा श्रद्धा के साथ मेरे चैतन्यमात्र का अनुभव करूँ आदर बना रहे इस भावना का श्रद्धान में सकलित किया है।

## भावयेयम् ८ । १२

मैं इस ज्ञानमात्र निजस्वभाव की भावना करूँ। श्रद्धान के अनंतर भावना ही करना रह जाता है। यह भावना ही पुरुषार्थ है। भवना भवनाशिनी। मैं इस ही चैतन्यमात्र को पुन पुन ध्याता हूँ इसकी ही निरंतर भावना करता हूँ।

## ध्यायेयम् ८ । १३

इस ही आत्मस्वभाव की ओर एक प्रधानता से उपयोग लगाऊँ ध्यान से होनेवाला कर्मनिर्जरा शिव के पाने का मुख्य उपाय है। मैं इस आत्मस्वभाव को ध्याऊँ। इतर सब विषयक चिन्तन छोड़कर एक प्रधानता से इसी आत्मस्वभाव में उपयोग को रमाऊँ।

## स्पृशानि ८ । १४

मैं इस आत्मस्वभाव का स्पर्श करूँ। यहाँ स्पर्श से तात्पर्य स्पर्शन इंद्रिय के कार्य से ... चरित्र से प्रयोजन है। जैसा ... है वैसी

है-स्वरूप है, उस उपयोगमे लेकर, "मै ज्ञानमात्र हूँ" इस प्रकार बार बार भावना करता हुआ आराधक आराध्य आराधक भाव के विभाग को दूर करता हुआ जब स्वरूप मे उपयोग से तन्मय हो जाता है, तब वह ज्ञानमात्र है। पश्चात् सविकल्प अवस्था भी यदि हो तब भी वह इस ज्ञानमात्र की धारणा श्रद्धा मे बनी पर रहता है और इस के प्रताप से बार बार ज्ञानमात्र उपयुक्त होता है जिसके प्रसाद से सदाके लिये ज्ञानमात्र स्थिति पाता है। तदहं ज्ञानमात्रम्।

इति तत्त्वसूत्रम्

✽ समाप्तम् ✽

उसीमें तप जिससे कि मेरा उपयोग, इसी स्वभाव के अनुरूप परिणति बनावे। इस प्रकार मैं निज चैतन्यस्वभाव का अनुभव करूं।

## सचेतानि ८। १८

मैं इस ही चैतन्यभाव का संचेतन करूं। अनुभव में मग्न है सचेतन से आगे की स्थिति सचेतन है। अनुभव में यत्न है सचेतन में सहजता है। सर्व भ्रम दूर करके ज्ञान का ज्ञानमात्र रखना संचेतन है। मैं इस चैतन्य स्वभाव का संचेतन करूं।

## एकीभवेयम् ८। १९

मैं इस चैतन्यस्वभावमें एकस्वरूप रहूं। यहां अद्वैतस्थिति का दिग्दर्शन है। ज्ञानभाव जब ज्ञानभाव को ज्ञेय करके परस्पर के द्वैत का विनाश कर लेता है तब यह एकीभाव प्रकट होता है। चैतन्यभाव जब चैतन्यको जानता है तब निर्विकल्प होकर अपनेको इस ही में तन्मय उपयोगी बनता है। ऐसे चैतन्यस्वभावमें एक रूप हूं। यहां वही ज्ञाता वही ध्यान वही ज्ञेय हो जाता है।

## ज्ञानमात्रम् ८। २०

इस प्रकार मैं ज्ञानमात्र स्वभाव व्यक्ति में भी ज्ञान मात्र रहूं। ज्ञानमात्र अथवा ज्ञाता मात्र रहने की जो दशा